126

# भारत का विधि आयोग

## केन्द्रीय विधियों पर उच्च न्यायालयों के विनिश्चयों में परस्पर विरोध—कैसे पुरोबंधित किया जाए और किस प्रकार समाधान किया जाए

पर

## एक सौ छत्तीसवीं रिपोर्ट

1990

एम० पी० ठक्कर
अध्यक्ष

विधि आयोग,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली,
21 फरवरी, 1990

अ० शा० सं० 6(2)90—वि० आ० (एल० एस०)

सेवा में,

श्री दिनेश गोस्वामी,
विधि और न्याय मंत्री,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली

प्रिय मंत्री जी,

**विषय : 136वीं रिपोर्ट को पेश करना**

इस पत्र के साथ भारत के विधि आयोग की 136वीं रिपोर्ट भेजी जा रही है जिसका शीर्षक इसकी अन्तर्वस्तु को दर्शाता है, अर्थात्—

केन्द्रीय विधियों पर उच्च न्यायालयों के विनिश्चयों में परस्पर विरोध—इसको कैसे पुरोबन्धित किया जाए और किस प्रकार समाधान किया जाए ।

यह रिपोर्ट आयोग की स्वप्रेरणा से किए गए प्रयास का परिणाम है । आयोग ने सम्बद्ध उच्च न्यायालयों के परस्पर विरोधी निर्णयों के कारण भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न और असंगत रीति से निर्वेचित, लागू और प्रशासित की जा रही समरूप केन्द्रीय विधि से उद्भूत होने वाली निराशकारी स्थिति से व्याकुलता महसूस की । पारिणामिक विधिक अस्तव्यस्तता ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है जहां एक ही केन्द्रीय विधि द्वारा शासित नागरिकों का, जिनकी स्थिति एक जैसी है, देश के एक भाग में एक अधिकार "है" और देश के किसी दूसरे भाग में उनका ऐसा अधिकार "नहीं" हैं । यह स्थिति अनिश्चित काल के लिए बनी रहेगी यदि संबंधित मामला उच्चतम न्यायालय में न ले जाया जाता या कई दशकों तक बनी रहेगी जब विधि अन्तिम रूप से तय नहीं कर दी जाती चाहे मामला उच्चतम न्यायालय में भी ले जाया जाए । उदाहरणस्वरूप इस बारे में विधि की क्या कोई विधवा किसी विशेष स्थिति में किसी संपत्ति की पूर्ण या सीमित स्वामी होने की हकदार होगी विधवा के पक्ष में लगभग 25 वर्ष के पश्चात् परिनिर्धारित की गई और इस बारे में विधि की किसी मोटर यान दुर्घटना के शिकार किसी व्यक्ति की विधवा किसी विशेष स्थिति में प्रतिकर का दावा कर सकती है विधवा के पक्ष में लगभग 20 वर्ष के पश्चात् परिनिर्धारित की गई । (रिपोर्ट के अध्याय 2 का पैरा 2.14 और 2.15 देखें) । इसलिए समाधान की आवश्यकता बहुत स्पष्ट है । इसलिए आयोग ने (1) ऐसे परस्पर विरोधों को आरम्भ में ही दबा देने; और (2) विधायी स्पष्टीकरणों की सिफारिश करके क्रमबद्ध रीति से विद्यमान परस्पर विरोधों का समाधान करने का प्रयास किया है । तदनुसार रिपोर्ट इस आशय के साथ पेश की जा रही है कि स्थिति की गंभीरता और आत्यिकता का अधिमूल्यन किया जाएगा और आवश्यक कार्रवाई यथाशीघ्र की जाएगी ।

अभिवादन सहित,

भवदीय
ह०
(एम० पी० ठक्कर)

संलग्नक : 136वीं रिपोर्ट

## विषय वस्तु


| | | पृष्ठ |
|---|---|---|
| अध्याय 1 . . | प्रस्तावना . . . . . | 1 |
| अध्याय 2 . . | एकरूपता और भारतीय विधिक प्रणाली . . | 2 |
| अध्याय 3 . . | वर्तमान तंत्र, क्या पर्याप्त है . . . | 8 |
| अध्याय 4 . . | विभिन्न उच्च न्यायालयों के परस्पर विरोधी विनिश्चयों से उत्पन्न होने वाली कुछ समस्याओं की पहचान और उपचारी उपायों के सुझाव . . . | 9 |
| अध्याय 5 . . | निष्कर्ष और सिफारिशें . . . . | 31 |
| टिप्पण और निर्देश . | . . . . . | 35 |
| उपाबन्ध . . | प्रस्तावित विधायन का प्रारूप . . . | 37 |

अध्याय 1

## प्रस्तावना

1.1. **परीक्षणाधीन समस्या**—"विधि के समक्ष समता" की संवैधानिक प्रत्याभूति के होते हुए भी क्या किसी नागरिक का सदृश केन्द्रीय विधि के सदृश उपबन्धों के अधीन किसी एक राज्य में कोई विधिक अधिकार "हो सकता है" और देश के किसी अन्य भाग में ऐसा अधिकार "नहीं हो सकता है?" उदाहरणार्थ क्या किसी पति या पत्नी का हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 25(1) के अधीन भरण पोषण मांगने का अधिकार आन्ध्र प्रदेश में "हो सकता है"। किन्तु पश्चिमी बंगाल[1] में उसे ऐसा अधिकार "नहीं हो सकता है?" और यदि सदृश केन्द्रीय अधिनियमों के सदृश उपबन्धों को देश के विभिन्न भागों में विभिन्न और असंगत रीति से निर्वचित, प्रशासित और लागू किया जाता है तो (1) विभिन्न उच्च न्यायालयों के परस्पर विरोधी निर्णयों के कारण विधियों में उत्पन्न होने वाली विद्यमान विषमताओं को दूर करने; और (2) यह सुनिश्चित करने के लिए कि ऐसी विषमताएं भविष्य में अस्तित्व में नहीं आती हैं, एक तंत्र का निर्माण करने के उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए इस समस्या की ओर अर्जेंट और तुरन्त ध्यान देना अपेक्षित है। इसलिए वर्तमान प्रयोग स्वप्रेरणा से किया जा रहा है।

1.2. **एकरूपता का अभाव एक बुराई**—यह बताना अनावश्यक है कि विधि में एकरूपता का अभाव न केवल मूल या प्रक्रिया सम्बन्धी विधि की गुणवत्ता का ह्रास करता है वरन उससे साधारण नागरिकों को गंभीर असुविधा भी होती है। उन व्यक्तियों के लिए, जिनका व्यवसाय उन व्यक्तियों को सलाह देना है जो विधि के प्रश्नों पर उनसे परामर्श करते हैं, वहां विश्वास के साथ ऐसी सलाह देना कठिन होता है जहां विनिश्चय परस्पर विरोधी हैं। उन व्यक्तियों को, जिन्हें विधि के प्रश्नों के न्याय-निर्णयन का कार्य सौंपा गया है, उस किसी विषय पर जो उनके समक्ष विचाराधीन होता है, दो या अधिक संभव विचारों में से चयन करने में पर्याप्त समय लगाना चाहिए। इस प्रक्रिया में समय और शक्ति का प्रचूर मात्रा में अपव्यय होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह कोई संतोषजनक स्थिति नहीं है कि देश के एक भाग में विद्यमान विधि-शासन देश के किसी दूसरे भाग में विद्यमान विधि-शासन से भिन्न हो जब कि असमानता परस्पर विरोधी न्यायिक निर्वचनों से पैदा होती है।

1.3. **रिपोर्ट की स्कीम**—इसी पृष्ठभूमि के विरुद्ध आयोग ने इस रिपोर्ट में इस समस्या का परीक्षण करने का और इस विषय पर कुछ सुझाव देने का प्रयत्न किया है। इस रिपोर्ट के पहले कुछ अध्यायों में, आयोग ने उस दृष्टिकोण की, जिस पर भारतीय विधिक प्रणाली की नींव रखी गई है, चर्चा की है, और उपर्युक्त समस्या से जूझने के लिए विद्यमान तंत्र की पर्याप्तता पर विचार प्रकट किया है। इस रिपोर्ट के अन्त में, इस विषय का समाधान करने के लिए प्रकल्पित एक सुझाव दिया गया है। इसके अतिरिक्त आयोग ने विधि के एक महत्वपूर्ण क्षेत्र की अर्थात् मुख्य अधिनियमितियों, जो हिंदू कुटुम्ब विधि से संबंधित हैं, परिधि में महत्वपूर्ण विनिश्चयों में विद्यमान परस्पर विरोध को प्रकाश में लाना और विधि में एकरूपता प्राप्त करने के लिए समुचित सिफारिशें करना भी उचित समझा है। आयोग विधि के अन्य क्षेत्रों में भविष्य में किसी उचित समय पर क्रमबद्ध रीति से वैसा ही प्रयोग करने की आशा करता है।

## अध्याय 2

## एकरूपता और भारतीय विधिक प्रणाली

2.1. **एकरूपता**—भारतीय विधिक प्रणाली में यह एक प्रारम्भिक वरन् आधारभूत प्रतिपादना है कि विधिक प्रणाली के भागरूप महत्वपूर्ण विषयों पर विधि यथासंभव समान हो। इस विषय पर विभिन्न उपबन्धों के युक्तियुक्त रूप से गहन अध्ययन से दर्शित होगा कि हमारी प्रणाली की यही चिंता है कि विधि के महत्वपूर्ण विषयों पर एकरूपता को अनुरक्षित और सुनिश्चित किया जाए और जहां कहीं आवश्यक हो उसे प्रत्यावर्तित किया जाए। जिस रीति से यह एकरूपता अनुरक्षित की जाती है उसकी चर्चा यहां की गई है।

2.2. **एकरूपता का स्रोत**—हमारे संविधान और विधिक प्रणाली ने निर्वचन की एकरूपता को प्राथमिकता दी है। ऐसी एकरूपता के स्रोत एक से अधिक हैं। उनका उद्गम, कई प्रकार की लिखतों, जैसे संविधान, कुछ कानूनी उपबन्धों, निर्णयज विधि के प्रवर्तन से संबंधित विधिक प्रणाली के सिद्धांतों, इस विषय से सुसंगत कुछ ऐतिहासिक बातों, वे कारण जिनके परिणामस्वरूप विधि आयोग की नियुक्ति की गई, और प्रशासनिक विधि के कुछ पहलुओं से हुआ है।

2.3. **संविधान का अनुच्छेद 141**—संविधान के अनुच्छेद 141 में घोषणा की गई है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर होगी। यह अनुच्छेद अपने पहलुओं में से सम्पूर्ण भारत में अपना प्रभुत्व रखने वाली संस्था के रूप में उच्चतम न्यायालय की श्रेष्ठता पुनः प्रवर्तित करने और इस प्रतिपादना को संदेह से परे करने के लिए आशयित है कि इसके निर्णय सभी न्यायालयों और प्राधिकारियों के लिए सर्वोपरि हैं। किन्तु अपने पहलुओं में से एक अन्य में यह एकरूपता की अभिवृद्धि करने के लिए भी आशयित है। न्यायिक निर्वचन चाहे वह किसी संवैधानिक प्रश्न पर हो या विधि के साधारण प्रश्न पर हो जिसके अन्तर्गत असंहिताबद्ध विधि के किसी प्रश्न पर कोई न्यायिक निर्णय है, एक बार जब यह उच्चतम न्यायालय द्वारा दिया जाता है तब यह सम्पूर्ण भारत में भविष्य में एकरूपता सुनिश्चित करेगा। यह भले ही प्राथमिक प्रतीत होता हो किन्तु इसका महत्व तब आधारभूत है जब किसी व्यक्ति को एकरूप निर्वचन को सुनिश्चित करने की संविधान निर्माताओं की इच्छा के अनुसार कार्य करना हो।

2.4. **संवैधानिक और अन्य मामलों में अपीली अधिकारिता**—संविधान में यथापरिकल्पित उच्चतर न्यायपालिका की अपीली अधिकारिता की स्कीम से प्रकट होता है कि संविधान निर्माताओं को यह सुनिश्चित करने की कितनी चिंता थी कि देश के भीतर या किसी राज्य के भीतर, निर्वचन की यथासंभव एकरूपता हो। उदाहरण के लिए प्रत्येक ऐसे मामले में, जिसमें संविधान का निर्वचन अन्तर्वलित है, उच्चतम न्यायालय में अपील का अधिकार दर्शित करता है, कि संविधान निर्माता यह चाहते थे कि इन प्रश्नों का अन्ततोगत्वा विनिश्चय देश के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए। साधारण सिविल विधि के प्रश्नों की चर्चा करते हुए संविधान के अनुच्छेद 133 में उपबन्ध, जो यदि विधि का कोई सारवान् प्रश्न अन्तर्वलित है, जिसका विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा करने की आवश्यकता है, अपील का अधिकार देता है इस आधारभूत प्रतिज्ञा का संकेत है कि यदि किसी विधि-प्रश्न पर कोई विवाद रहा है और उस विवाद्यक का विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा किए जाने की आवश्यकता है तब उस मामले की सुनवाई करने और उसका विनिश्चय करने की अधिकारिता उस न्यायालय की होनी चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संविधान एकरूपता की आवश्यकता पर सर्वोपरि ध्यान देती हैं।

2.5. **विशेष इजाजत द्वारा अपील**—यह सुविख्यात है कि संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील करने की विशेष इजाजत देने की उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता उच्चतम न्यायालय द्वारा तब हस्तक्षेप की अनुज्ञा देने के लिए पर्याप्त रूप से व्यापक है जब ऐसे हस्तक्षेप के लिए आवश्यकता है क्योंकि अन्यथा विधि असन्तोषजनक स्थिति में रहेगी या देश में [1,2,3] एकरूपता का अभाव रहेगा।





2.6. **उच्चतम न्यायालय तक पहुंच**—किसी विशेष विषय पर उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णय करने की अपेक्षा करने से पूर्व उच्चतम न्यायालय तक पहुंच का प्रश्न है। नागरिकों को देश के सर्वोच्च न्यायालय तक ऐसी पहुंच वहां देने के लिए, जहां विधि का प्रश्न अन्तर्वलित है, आवश्यकता संविधान-निर्माताओं के समक्ष थी और वह उन उपबन्धों के लिए मुख्य हेतु है। संविधान में उच्चतम न्यायालय में अपील करने का अधिकार तब परिकल्पित है जब विधि का कोई सारवान् प्रश्न अन्तर्वलित हो जिसका उच्चतम न्यायालय[4] द्वारा विनिश्चय किए जाने की आवश्यकता है। अपील का यह अधिकार अव्यवहित विवाद में अन्तर्वलित विवादी के फायदे मात्र के लिए नहीं है। यह सर्वोच्च न्यायालय से विधि के निर्णय अभिप्राप्त करने के लिए समर्थ बनाने के लिए भी आशयित है। इस भाव से अपील का ऐसा अधिकार एकरूप निर्वचन के पक्ष को अग्रसर करके और उसकी अभिवृद्धि करके स्वयं विधिक प्रणाली के फायदे के लिए आशयित है।

2.7. **उच्च न्यायालय के निर्णय का आबद्धकारी प्रभाव**—यह सत्य है कि यह आदेश करने वाला उपबन्ध कि विधि के प्रश्नों पर किसी उच्च न्यायालय का निर्णय उस राज्य के भीतर न्यायालयों और प्राधिकारियों को बाध्य करेगा, संविधान में नहीं है। किन्तु यह बात संदेह से परे तय है कि किसी उच्च न्यायालयों के निर्णयों का उस राज्य के भीतर वही प्राधिकार होगा जो उच्चतम न्यायालय के निर्णयों का सम्पूर्ण भारत में हैं। यह अनेक न्यायिक विनिश्चयों के जिन्होंने ऊपर वर्णित सिद्धांत की पुष्टि या पुनः पुष्टि की है, फलस्वरूप है।

वस्तुतः यह ऐसे सिद्धान्त के कारण और ऐसे सिद्धांत की पृष्ठभूमि के विरुद्ध है कि सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 में उच्च न्यायालय को द्वितीय अपील का ऐसी शब्दावली के निबन्धनों के अनुसार जो विधि के प्रश्न के अन्तर्वलित होने पर केन्द्रित है, अधिकार दिया गया है। यदि विधि के पक्ष पर यह बल न दिया गया होता तो यह बल जिसके बारे में विधि आयोग को उस संहिता[5] पर अपनी रिपोर्ट में चर्चा करने का अवसर मिला था, तो यह पहलू पर ध्यान देने से बच जाता। किन्तु आज यह ध्यान[6] से नहीं बच सकता।

यह बल जो सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 में इस समय है विधि आयोग की सिफारिश में अधिक विनिर्दिष्ट रूप से दिया गया था जिसने अन्ततोगत्वा 1976 में यथासंशोधित इस धारा में स्थान प्राप्त किया। विधि आयोग ने द्वितीय अपील के अधिकार के पीछे हेतु के बारे में निम्नलिखित संप्रेक्षण किए :—

> '1-अ—58. विधि के प्रश्न पर द्वितीय अपील अनुज्ञात करने के पीछे यह हेतु है कि कोई ऐसा अधिकरण होना चाहिए जिसकी ऐसी अधिकारिता हो जिससे वह महत्वपूर्ण विधि विवाद्यकों पर सम्पूर्ण राज्य में एकरूपता अनुरक्षित करने और जहां आवश्यक हो उसे पुनःस्थापित करने में समर्थ हो सकें जिससे कि राज्य के क्षेत्र के भीतर विधि, जहां तक कि वह अधिनियमित की गई विधि नहीं है किसी एक न्यायालय द्वारा अधिकथित की जानी चाहिए या अधिकथित किए जाने योग्य होनी चाहिए जिसके निर्णय उस क्षेत्र के भीतर, जिस पर उसकी अधिकारिता है, सभी न्यायालयों, अधिकरणों और प्राधिकारियों पर आबद्धकर होंगे। यह विधिक प्रणाली में वहां उपलक्षित है जहां उच्चतर न्यायालयों को विधि के प्रश्नों पर आबद्धकर विनिश्चय करने का अधिकार है।
>
> 1-अ—59. जब किसी मामले में विधि का सारवान् प्रश्न अन्तर्वलित है तब विधि के भावी रूप को जानने के लिए समाज के साधारण हित से प्रथम बार के न्यायालयों से किसी केन्द्रीय अपील न्यायालय को अपीलों की कोई प्रणाली स्पष्ट रूप से आवश्यक हो जाती है।
>
> "जैसा कि संप्रेक्षण किया गया है" इस प्रकार के प्रश्नों पर अपीलों के लिए वास्तविक औचित्य उतना नहीं है कि अपील न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि के वरिष्ठ होने की संभाव्यता है जितना कि यह कि कोई अन्तिम निर्णय अधिकथित किया जाना चाहिए जो सभी भविष्यवर्ती न्यायालयों को बाध्य करे और इस प्रकार विधि का भावी रूप बताना सुकर बनाए। ऐसे किसी मामले में व्यष्टिक विवादियों का, कुछ औचित्य के साथ, विधि निर्माण की वेदी पर बलिदान किया जाता है, और उन्हें ऐसी सान्त्वना मिलनी चाहिए जो उन्हें किसी अग्रनिर्णय में मिल सकती है।'

विरासत में सम्पत्ति पाई है तो वह उसकी "पूर्ण स्वामी" हो जाती अर्थात् किसी ऐसी स्थिति में जहां कोई हिंदू विधवा, अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् सम्पत्ति का (जिसमें उसका परिसीमित स्वामित्व है) कब्जा पुनः प्राप्त कर लेती है उस अंतिरिती द्वारा, जिसके पक्ष में उसने इसे उस अधिनियम के प्रारंभ[ख] के पूर्व अन्तरित किया था, उसी सम्पत्ति के पुनः अन्तरण पर "पूर्ण स्वामी" हो जाएगी। यह बेतुकी स्थिति हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 14(1) के निर्वचन और लागू होने के कारण पैदा हुई है। उपर्युक्त तथ्य विषयक स्थिति के संदर्भ में उड़ीसा[ग] और आन्ध्र प्रदेश[घ] के उच्च न्यायालयों ने उद्घोषित किया है कि ऐसे पुनः अन्तरण पर ऐसी सम्पत्ति की वह "सीमित स्वामी" ही होगी, जबकि मद्रास[ङ] पंजाब[च], मुम्बई[छ] और गुजरात[ज] ने इसके प्रतिकूल राय दी है और उद्घोषित किया है कि वह उपर्युक्त स्थिति में ऐसी सम्पत्ति की "पूर्ण स्वामी" हो जाएगी। इसलिए हमें यह सुनिश्चित करने के लिए, कि किसी हिन्दू विधवा को, इस तथ्य पर विचार किए बिना कि उसकी सम्पत्ति चाहे एक उच्च न्यायालय या दूसरे उच्च न्यायालय की अधिकारिता में स्थित है, एक ही विधि के अधीन एक जैसे अधिकार होंगे विधि से ये अनावश्यक विषमताएं दूर करने के लिए यह प्रयोग करना पड़ा है।'

अन्ततोगत्वा उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि विधवा ऊपर दी गई परिस्थितियों में पूर्ण स्वामी के रूप में हकदार होगी।

2.15. **इस संदर्भ[12] में एक विवाद के प्रति**—जिसका उच्चतम न्यायालय द्वारा (20 वर्ष बीत जाने के पश्चात्) समाधान किया गया था, निर्देश किया जा सकता है।

**मोटर यान अधिनियम के अधीन बीमाकर्ता का दायित्व**—मोटर यान अधिनियम, 1939 की धारा 96(2)(ख)(ii) वह उपबन्ध था जिस पर विचार किया जाना था। जबकि मोटर यान अधिनियम की धारा 96 मोटर यानों की बीमाकर्ताओं पर तृतीय पक्षकार जोखिम की बाबत बीमा किए गए व्यक्तियों के विरुद्ध अभिप्राप्त निर्णय की तुष्टि करने का कर्तव्य अधिरोपित करती है, बीमाकर्ता के लिए धारा 96(2) के अधीन विनिर्दिष्ट आधारों पर अभियोजन के विरुद्ध कुछ प्रतिवाद करना अनुज्ञेय था। इस प्रकार प्रतिवाद धारा 96(2)(ख)(ii) पर, जो "ऐसी शर्त के नामित व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा या ऐसे किसी व्यक्ति द्वारा जो सम्यक् रूप से अनुज्ञात नहीं है या ऐसे जिसे चालन-अनुज्ञप्ति धारण या अभिप्राप्त करने से निरर्हित कर दिया गया है, निरर्हता की अवधि के दौरान यान का चलाया जाना अपवर्जित करती है"। के संबंध में था, आधारित किया जा सकता था।

उस प्रश्न का, जो उच्च न्यायालयों को कठिनाई में डालता था जब तक उसका उच्चतम न्यायालय द्वारा समाधान नहीं किया था, सर्वोत्तम कथन उच्चतम न्यायालय के निर्णय से उत्कथन करके किया जा सकता है :—

> "जबकि कुछ राज्यों में किसी मोटर यान दुर्घटना के शिकार व्यक्ति की विधवा बीमा कम्पनी से उसको अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम वसूल कर सकती है, प्रमित रूप से तथ्य विषयक वैसी ही स्थिति में वह अन्य राज्यों में ऐसा करने के लिए असमर्थ होगी, उसके अपने-अपने उच्च न्यायालयों द्वारा परस्पर विरोधी विचार है। विधि में से अनावश्यक विषमताएँ, विधि को तय

---

ख. अधिनियम 17 जून, 1956 को प्रवृत्त हुआ।

ग. गणेश महता **बनाम** सुक्रिया बेवा, अखिल भारतीय रिपोर्टर 1963, उड़ीसा 167, 39 विधि अधिकरण 474।

घ. वेंकटरामन **बनाम** पालामा (1970) आन्ध्र सा० रिपोर्टर।

ङ. चिन्नाकोलंडाई गौंधन **बनाम** थांजी गौंडर, भारतीय विधि रिपोर्टर (1966), 1 मद्रास 326, अखिल भारतीय रिपोर्टर 1965, मद्रास 497, (1965) मद्रास विधि जर्नल 247।

च. तेजा सिंह **बनाम** जगत सिंह. अखिल भारतीय रिपोर्टर पंजाब 403।

छ. रामगौड़ आनागौड़ **बनाम** भाओ साहिब, भारतीय विधि रिपोर्टर 52, मुम्बई-1, अखिल भारतीय रिपोर्टर 1927, पं० मामले 227।

ज. बाई चंपा **बनाम** चंद्रकांता हीरालाल दाहीयाबाई सौदागर अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1973, गुजरात 227।



करके दूर करना अपेक्षित है जिससे कि **दुर्घटना के स्थान पर निर्भर करते हुए वही विधि नागरिकों पर भिन्न रूप से प्रवर्तनशील नहीं होती है**। प्रश्न यह है कि क्या बीमाकर्ता किसी घातक दुर्घटना के शिकार व्यक्ति के आश्रितों द्वारा अभिप्राप्त किसी डिक्री से इस आधार पर कि बीमा पालिसी में "ऐसी शर्त जो नामित व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा या ऐसे किसी व्यक्ति द्वारा जो सम्यक् रूप से अनुज्ञात नहीं है या ऐसे व्यक्ति द्वारा जिसे चालन अनुज्ञप्ति धारण या अभिप्राप्त करने से निरर्हित कर दिया गया है, निरर्हता की अवधि के दौरान यान का चलाया जाना अपवर्जित करती है, या उपबन्ध हैं। उन्मुक्ति का दावा करने का हकदार है और यह कि ऐसा अपवर्जन तृतीय पक्षकार जोखिमों की बाबत बीमा किए गए व्यक्तियों के विरुद्ध निर्णयों की तुष्टि करने की बाध्यता के विरुद्ध उन्मुक्ति का दावा करने के लिए धारा 96(2)(ख)(ii) के सन्दर्भ में अनुज्ञेय था।"

बीमाकर्ता के दायित्व के प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि पूर्ण अपवर्तनकारी खंड को इस प्रकार पठित करना होगा जिससे इसे अधिनियम के मूल उपबन्धों के अनुरूप किया जा सके। उपर्युक्त दृष्टान्त से जो परिणाम निकलता है वह यह है कि हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 14 में दी गई विधि में उच्चतम न्यायालय द्वारा एकरूपता लाने के पूर्व 25 वर्ष बीत गए। तब तक विधि संबंधित राज्यों के अपने-अपने द्वारा किए गए निर्वचन के अनुसार देश के विभिन्न भागों में विभिन्न रूप से प्रशासित की जा रही थी। इसी प्रकार इसके पूर्व कि विधि उच्चतम न्यायालय द्वारा एकरूप से अधिकथित की जा सकी मोटर यान अधिनियम के दूसरे दृष्टांत में लगभग 20 वर्ष बीत गए। परिणामस्वरूप हिन्दू विधवा ने एक राज्य में सम्पत्ति का अधिकार अर्जित कर लिया किन्तु सदृश्य अखिल भारतीय विधि के अधीन किसी अन्य राज्य में नहीं। दुर्घटना का शिकार व्यक्ति की विधवा एक राज्य में प्रतिकर की हकदार हो गई किन्तु उसी विधि के अधीन वैसी ही स्थिति में किसी अन्य राज्य में नहीं। इस प्रकार अनुभव से यह सिद्ध होता है कि यदि एकरूपता का कार्य उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलों में तब तय किए जाने और अधिकथित किए जाने के लिए ही छोड़ दिया जाए जब मामला उच्चतम न्यायालय में ले जाया जाता है और सम्पूर्ण भारत में लागू करने के लिए विधि में एकरूपता के लिए आवश्यकता सिद्ध कर देता है तो उसमें लगभग 20 वर्ष का अत्यधिक विलम्ब होने की संभाव्यता है।

2.16. **विचार किए जाने वाला प्रश्न तंत्र**—यह विषयान्तर अगले प्रश्न पर अग्रसर होने के लिए हमें समर्थ बनाने के लिए आवश्यक समझा गया है। यदि जैसा कि पूर्ववर्ती पैरों में प्रसंग है, विनिश्चयों में एकरूपता और परस्पर विरोध विनिश्चयों द्वारा कारित असुविधा का उपचार करना अभीष्ट वस्तु का अभाव है तो ऐसी एकरूपता बनाए रखने के लिए क्या तंत्र होना चाहिए? क्या इस विषय के लिए विद्यमान तंत्र पर्याप्त है और यदि नहीं तो इस प्रयोजन के लिए कौन से नए उपाय किए जाएं? हम, उचित स्थान पर महत्वपूर्ण विधि बिंदुओं के कुछ नमूने देंगे जिन पर विनिश्चयों में परस्पर विरोध विद्यमान प्रतीत होता है। इस संबंध में हम यह भी वर्णन कर सकते हैं कि विधि के कई ऐसे प्रश्न है, जिन पर भूतकाल में पर्याप्त रूप से लम्बी अवधि तक परस्पर विरोध था चाहे उसे बाद में या तो न्यायालय के निर्णयों द्वारा या भारत के विधि आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप किए गए विधायी स्पष्टीकरण द्वारा या अन्यथा दूर कर दिया गया है। इस रिपोर्ट के अन्त में हम एकरूपता बनाए रखने के प्रयोजन से स्थापित किए जाने वाले तंत्र के संबंध में समुचित सिफारिशें करेंगे।

अध्याय 3

## वर्तमान तंत्र, क्या पर्याप्त है

3.1. **वर्तमान तंत्र : उच्चतम न्यायालय को अपील**––जहां तक विचारों के परस्पर विरोध को तय करने के प्रयोजन के लिए इस समय विद्यमान तंत्र का संबंध है प्राथमिक रूप से यह उच्चतम न्यायालय तक पहुंच या विधायी हस्तक्षेप का है। उच्चतम न्यायालय तक अपील के रूप में पहुंच, बातों की प्रकृति में ही, कभी कभार होती है और मुकदमे की प्रसंगतियों पर आश्रित है। हो सकता है कोई विवादी विधि के प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय में अपील करें या न करें। यदि उसने विधि के किसी प्रश्न पर अपील की भी है तो भी अपील उसके अपने कारणों से प्रत्याहृत की जा सकती है या मामले में समझौता किया जा सकता है या किसी विनिश्चय के बिना उसका अन्यथा निपटारा किया जा सकता है। यदि मामले की उच्चतम न्यायालय के समक्ष सुनवाई होती है और गुणागुण पर उसका विनिश्चय किया जाता है तो हो सकता है कि विधि के विशेष प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय विचार न करे। अन्तिम विनिश्चय के लिए सामग्री अन्य आधारों पर दी गई हो। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय द्वारा व्याख्या––जो कि एक बहुत अच्छा कदम होगा––वास्तव में प्रत्येक मामले में प्राप्त नहीं किया जाता क्योंकि इस प्रयोजन के लिए प्रक्रिया व्यवस्थित रूप से परिकल्पित नहीं है।

3.2. **विधायी हस्तक्षेप**––विधि की, जो विनिश्चयों में परस्पर विरोध द्वारा दुर्बोध हो गई हो, व्याख्या करने के लिए परिकल्पित विधायी हस्तक्षेप भी कोई बहुत व्यवस्थित प्रक्रिया नहीं है। परस्पर विरोध का विषय, हो सकता है, विधान-मंडल की जानकारी में लाया ही न जाए। यदि इसे विधान-मंडल की जानकारी में लाया भी जाता है तो भी उन बातों के कारण जो अधिक अति आवश्यक मांगे समझी जातीं विधान-मंडल के पास उसकी जांच करने का समय न हो या उसकी उसमें रुचि न हो। कई बार यदि विधान-मंडल ने मामले की जांच करने और उस विषय पर कोई विधायी प्रस्ताव पुरःस्थापित कर दिए जाने के पश्चात् प्रस्ताव वास्तविक विधायन में परिणत न हो क्योंकि हो सकता है कि प्रस्ताव पारित न किया जाए या सदन द्वारा अन्तिम रूप में पारित विधेयक में आवश्यक व्याख्या न हो। इसमें संदेह नहीं कि विधि आयोग जैसे निकाय का कार्यकरण किसी विशिष्ट विषय पर विनिश्चयों के परस्पर विरोध द्वारा कारित कठिनाई विधान-मंडल की जानकारी में लाता है। किन्तु ऊपर वर्णित विधायी समय रूचि और अन्य बातें तब भी बनी रहती है।

3.3. **संशोधन की आवश्यकता**––इसलिए यह प्रतीत होता है कि विद्यमान तंत्र की, कुछ ऐसा तंत्र सृजित करके, जो विचारों के परस्पर विरोध द्वारा स्थायी रूप से दूषित विधि की एकरूपता को सीधे प्राप्त करने के लिए परिकल्पत हो, अनुपूर्ति करने की आवश्यकता है। एकरूपता के लक्ष्य में सुधार, प्रणाली में से, जिसके अधीन विनिश्चयों में परस्पर विरोध की प्रकृति के मामले व्यवस्थित रूप से न्यायालयों में (उच्चतम न्यायालय में अपील के रूप में) या कानूनी व्याख्या के लिए विधान-मंडल में नहीं पहुंचते हैं या इनमें से किसी भी अभिकरण को तत्परता से और प्रभावी रूप से नहीं पहुंचते हैं, त्रुटि को दूर करके करना होगा। इस विषय से प्रबल रीति से कार्यवाही करने के लिए हम इस रिपोर्ट में उस तंत्र के बार में सिफारिश कर रहे हैं, जो विधि की एकरूपता प्राप्त करने के लिए परिकल्पित हो सकती है।

3.4. **हिन्दू विधि के सम्बन्ध में कुछ विनिर्दिष्ट अधिनियमितियों के बारे में चर्चा**––विनिश्चयों में परस्पर विरोध की ओर, जो कुछ विनिर्दिष्ट अधिनियमितियों के संबंध में विभिन्न महत्वपूर्ण विषयों पर अस्तित्वशील होता प्रतीत होता है, ध्यान आकृष्ट करना उचित है। वर्तमान रिपोर्ट उन अधिनियमितियों के संबंध में है जो संहिताबद्ध हिन्दू विधि अर्थात् (1) विवाह, और (2) उत्तराधिकार अर्थात् हिन्दू कुटुंब विधि से संबंधित मुख्य कानूनों का एक महत्वपूर्ण भाग है। आयोग विनिश्चयों में परस्पर विरोध को, जो इस विषय पर पैदा हो गया हो, तय करने की दृष्टि से कुछ अन्य महत्वपूर्ण अधिनियमितियों को भी सम्यक् अनुक्रम में रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए लेने की आशा करता है।



अध्याय 4

## विभिन्न उच्च न्यायालयों के परस्पर विरोधी विनिश्चयों से उत्पन्न होने वाली कुछ समस्याओं की पहचान और उपचारी उपायों के सुझाव

4.1. उसी विधि को संबंधित राज्यों के विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा देश के विभिन्न भागों में असंगत और परस्पर विरोध रीति से निर्वचित, लागू या प्रशासित करते रहने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती। इस परस्पर विरोध का समय के साथ उच्चतम न्यायालय द्वारा समाधान **किया जा सकता है। परन्तु यह तब जब वह उच्चतम न्यायालय में लाया जाता है।** (हो सकता है विवादी की उच्च न्यायालय में जाने की इच्छा नहीं या उसके पास समाधान न हो) यदि परस्पर विरोध का अन्ततोगत्वा समाधान हो भी जाता है तो भी यह एक दो दशक के पश्चात् होगा। इसलिए विद्यमान परस्पर विरोध उपचारी विधायी उपायों द्वारा दूर किए जाने चाहिए। यह आश्चर्यजनक और दुर्भर कार्य केवल क्रमबद्ध रीति से ही किया जा सकता है। इस अध्याय में आयोग ने हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 और हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 से उत्पन्न होने वाली समस्याओं की चर्चा भी की है।

4.2. **क्या कोई प्रत्यर्थी दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए किसी याचिका में प्रतिरक्षा के रूप में यह अभिवाक् कर सकता है या नहीं कि विवाह अस्तित्वयुक्त नहीं है? क्या उसे किसी पृथक् वाद के लिए विवश किया जाना चाहिए**––हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 9 में यह उपबन्ध है कि जब कि पति या पत्नी ने अपने को दूसरे के साहचर्य से किसी युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना प्रत्याहृत कर लिया हो तब व्यथित पक्षकार दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए जिला न्यायालय से याचिका द्वारा आवेदन कर सकेगा और न्यायालय ऐसी याचिका में किए गए कथनों के सत्य के बारे में तथा इस बात के बारे में कि इसके लिए कोई वैध आधार नहीं है कि आवेदन मंजूर क्यों न कर लिया जाए अपना समाधान हो जाने पर दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री कर सकेगा। इस धारा का एक स्पष्टीकरण है जो युक्तियुक्त प्रतिहेतु के सबूत के भार के संबंध में है। एक प्रश्न पर अर्थात् क्या प्रत्यर्थी प्रत्यास्थापन के लिए याचिका में प्रतिरक्षा में यह अभिवाक् कर सकता है कि प्रत्यर्थी ने रूढ़ि के अनुसार पहले ही विवाह विघटन अभिप्राप्त कर लिया है। **राजस्थान उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित[1] किया है कि ऐसा अभिवाक् नहीं किया जा सकता।** यह कारण दिया गया है कि अधिनियम किसी दावे या प्रतिरक्षा के न्यायनिर्णयन के लिए कोई अभिव्यक्त उपबन्ध नहीं करता है कि प्रतिवादी पक्षकारों के बीच विवाह जनजाति की पंचायत जैसे किसी प्राइवेट मंच के विनिश्चय द्वारा विघटित हो गया है। उस उच्च न्यायालय के अनुसार ऐसा न्यायनिर्णयन केवल किसी सिविल न्यायालय से ही अभिप्राप्त किया जा सकता है और वैवाहिक न्यायालय से नहीं।

**किन्तु जम्मू-कश्मीर न्यायालय[2] ने प्रतिकूल निर्णय किया है।** इसकी राय में धारा 9 (प्रत्यास्थापन के लिए) के अधीन या धारा 13 (विवाह विच्छेद) के लिए याचिका विद्यमान वैध विवाह का पूर्वानुमान लगाती है। यह अभिवाक् कि ऐसा कोई विवाह विद्यमान इसलिए नहीं है क्योंकि या तो विवाह हुआ ही नहीं या वह किसी रूढ़ि या किसी विशेष अधिनियमिति के अधीन विघटित हो गया था, वादी के वाद को विफल करने के लिए विरोधी पक्षकार के लिए प्रति रक्षा है भले ही ऐसी कोई प्रतिरक्षा धारा 9 में विनिर्दिष्ट रूप से उपबन्धित नहीं है। इस विचार के अनुसार कोई वैवाहिक न्यायालय किसी विवाह के अनस्तित्वयुक्त होने या अपालन या किसी अन्य आधार के बारे में कोई अभिवाक् करने की प्रतिरक्षा ग्रहण कर सकता है या ग्रहण करने के लिए बाध्य है। वैवाहिक न्यायालय को अपनी डिक्री या आदेश उस पर अपने न्यायनिर्णयन के अनुसार विरचित करना होगा। **ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरा विचार सही है।** यह विचार करने की बात है कि हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 29(2) में अभिव्यक्त रूप से यह उपबंध है कि वह अधिनियम रूढ़ि द्वारा मान्यता प्राप्त या किसी हिन्दू विवाह का विघटन अभिप्राप्त करने के लिए किसी विशिष्ट अधिनियमिति द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार पर

प्रभाव डालने के लिए नहीं है। इस प्रकार कोई रूढ़ि हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 द्वारा निराकृत नहीं होती है। प्रसंगवश दिल्ली उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अमृतसर जिले के सिख जाटों के बीच हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन से अन्यथा विवाह विघटन की रूढ़ि विधि द्वारा मान्यता प्राप्त है और जहां ऐसा विघटन न्यायलय के बाहर किया गया है वहां पश्चात्वर्ती कोई विवाह निराकृत[3] घोषित नहीं किया जा सकता। **आयोग का यह विचार है कि :—**

(1) विवाह विषयक किसी मुकदमे में अंतर्वलित किसी अभागे पति या पत्नी को कार्यवाहियों के बाहुल्य की बुराई से उन्मुक्त करने के लिए, और

(2) यह सुनिश्चित करने के लिए कि पक्षकारों के बीच सभी विवादों का निपटारा उसी न्यायालय द्वारा किया जाता है जिसके समक्ष उनका विवाह विषयक विवाद आरंभ में लाया जाता है,

पक्षकारों को किसी नए मुकदमे के लिए, जिसमें नए सिरे से खर्च उपगत करना पड़े, विवश करने के स्थान पर उस न्यायालय को सभी सुसंगत विवाद्यकों का निपटारा करने के लिए अभिव्यक्त रूप से सशक्त किया जाए जिससे कि पक्षकारों के बीच "वाद" का एक बार और सभी समयों के लिए अंत हो जाए।

विचारों के परस्पर विरोध का समाधान करने के लिए और उन महत्वपूर्ण बातों की, जिन पर पहले बल दिया गया है, दृष्टि से **यह सिफारिश की जाती है कि मोटे तौर पर इसके नीचे दिए गए के अनुसार एक "स्पष्टीकरण" धारा 9 में जोड़ा जाए।**

> "**स्पष्टीकरण**—उस न्यायालय को जिसके समक्ष दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए कोई याचिका इस धारा के अधीन प्रस्तुत की जाती है, यह विनिश्चय करने की अधिकारिता होगी कि क्या विवाह, किसी रूढ़ि द्वारा मान्यताप्राप्त या किसी हिन्दू विवाह का विघटन अभिप्राप्त करने के लिए किसी विशेष अधिनियमिति द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार का जो ऐसा अधिकार है जिसकी व्यावृत्ति धारा 29 की उपधारा (2) द्वारा की गई है प्रयोग करते हुए विघटित कर दिया गया है।"

4.3. **क्या पति या पत्नी में कोई एक जिसने सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद के लिए किसी संयुक्त याचिका पर हस्ताक्षर किए हैं, इससे पूर्व कि न्यायालय प्रार्थना मंजूर करने वाला आदेश पारित करे, अपनी सहमति प्रत्याहृत कर सकता है ?**

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13ख में सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद का उपबन्ध है :—

> "13ख. **परस्पर सहमति से विवाह-विच्छेद**—(1) इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन रहते हुए यह है कि विवाह के दोनों पक्षकार मिलकर विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा विवाह के विघटन के लिए याचिका, चाहे ऐसा विवाह, विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 के प्रारम्भ के पूर्व या उसके पश्चात् अनुष्ठापित किया गया हो, जिला न्यायालय में, इस आधार पर पेश कर सकेंगे कि वे एक वर्ष या उससे अधिक समय से अलग-अलग रह रहे हैं और वे एक साथ नहीं रह सके हैं तथा वे इस बात के लिए परस्पर सहमत हो गए हैं कि विवाह का विघटन कर दिया जाना चाहिए।
>
> (2) उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट याचिका के **पेश किए जाने की तारीख से छह मास के पश्चात् और उस तारीख से अठारह मास के पूर्व दोनों पक्षकारों द्वारा किए गए प्रस्ताव पर,** यदि इस बीच याचिका वापस नहीं ले ली गई है तो, न्यायालय पक्षकारों को सुनने के पश्चात् और ऐसी जांच करने के पश्चात् जो वह ठीक समझे अपना यह समाधान कर लेने पर कि विवाह अनुष्ठापित हुआ है और याचिका में किए गए प्रकथन सही हैं, यह घोषणा करते हुए विवाह-विच्छेद की डिक्री पारित करेगा कि विवाह डिक्री की तारीख से विघटित हो जाएगा।"
>
> [बल जोड़ा गया है]



पति और पत्नी द्वारा विवाह-विच्छेद के लिए आरम्भिक याचिका संयुक्त रूप से किए जाने के पश्चात् न्यायालय को उस धारा में विनिर्दिष्ट अवधि के लिए प्रतीक्षा करनी चाहिए। यह उपलक्षित है कि आरम्भिक याचिका में यथाभिलिखित विवाह-विच्छेद करने के लिए सहमति विवाह-विच्छेद के लिए सहमति डिक्री के लिए प्रार्थना मंजूर करने वाला आदेश न्यायालय द्वारा पारित किए जाने के पूर्व सहमति देने वाले पति और पत्नी द्वारा प्रत्याहृत की जा सकती है। किन्तु क्या सहमति पति या पत्नी में से केवल एक द्वारा प्रत्याहृत की जा सकती है? एक विचार के अनुसार यह प्रत्याहृत की जा सकती है। फिर भी एक दूसरे विचार[7] के अनुसार पति और पत्नी दोनों में से केवल एक द्वारा किया गया प्रत्याहरण का आवेदन अक्षम है और संयुक्त याची के रूप में एक बार हस्ताक्षर करने पर वह सहमति से मुकर नहीं सकता भले ही संयुक्त प्रार्थना पर कार्य करने वाले न्यायालय द्वारा कोई अन्तिम आदेश पारित नहीं किया गया है। एक बार हस्ताक्षर कर दिया जाए और याचिका प्रस्तुत कर दी जाए तो विचार यह है कि वह सहमति से बन्ध जाता/जाती है और उसे एकपक्षीय रूप से सहमति प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती, परन्तु यह कि सहमति के प्रतीक स्वरूप किया गया हस्ताक्षर स्वैच्छिक है और कपट द्वारा दूषित नहीं है।

दिल्ली और मुम्बई उच्च न्यायालय इस विचार[8] से सहमत है।

4.3.1. **परिणामस्वरूप भारत के एक भाग में एक पति या पत्नी जो विवाह-विच्छेद के लिए डिक्री के लिए सहमत होने की बुद्धिमत्ता पर पुनः विचार करता/करती है न्यायालय द्वारा अन्तिम आदेश पारित करने से पूर्व, स्थिति को सुधार सकता है, भारत के किसी दूसरे भाग में वह ऐसा नहीं कर सकता/सकती, चाहे दोनों ही विधि के उसी कानूनी उपबन्ध से शासित होते हैं।** ऐसी स्थिति समाज द्वारा विशेष रूप से वैवाहिक प्रास्थिति से संबंधित किसी मामले में स्वीकार नहीं की जा सकती और उस प्रश्न पर विवाद सहन नहीं किया जा सकता। इसलिए इस कानून को संशोधित करने की आवश्यकता है जिससे कि उसी विधि के देश में हर स्थान पर वे ही परिणाम हों।

4.3.2. **कौन-सा विचार अभिभावी होना चाहिए और विधि को कैसे संशोधित किया जाए ?** इस विवाद पर राय बनाने से पूर्व उस तर्क की, जिसकी दो विरोधी विचारों के समर्थन में अलग-अलग उच्च न्यायालयों ने प्रशंसा की है, जांच करना आवश्यक है। **दिल्ली उच्च न्यायालय, जिसका यह विचार है कि सहमति पति या पत्नी में से किसी एक द्वारा एक पक्षीय रूप में प्रत्याहृत नहीं की जा सकती, यह तर्क करता है :—**

> "9. उपधारा (2) में यह उपबन्ध है कि उपधारा (1) में निर्दिष्ट पहली याचिका के पेश किए जाने की तारीख से छह मास के पश्चात् और उस तारीख से 18 मास के पूर्व पक्षकारों द्वारा किए गए प्रस्ताव पर, यदि इस बीच याचिका वापस नहीं ले ली गई है, तो न्यायालय, पक्षकारों को सुनने के पश्चात् और जांच करने के पश्चात्, यदि उसका समाधान हो जाता है कि विवाह अनुष्ठापित हुआ है और याचिका में किए गए प्रकथन सही हैं, विवाह-अनुच्छेद की डिक्री पारित कर सकता है। **चाहे धारा 13ख की उपधारा (2) में संयुक्त याचिका का वापस लिया जाना परिकल्पित है इसमें संयुक्त याचिका को वापस लेने की प्रक्रिया विहित नहीं की गई है। मुझे भी धारा 13ख(1) के अधीन पेश की गई किसी संयुक्त याचिका को वापस लेने संबंधी कोई अन्य उपबन्ध, अधिनियम या नियमों में नहीं मिला है।** फिर भी अधिनियम की धारा 21 में यह उपबन्ध है कि इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट अन्य उपबन्धों के और उन नियमों के जो उच्च न्यायालय इस निमित्त बनाए, अधीन रहते हुए यह है कि इस अधिनियम के अधीन सब कार्यवाहियां जहां तक हो सके सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 द्वारा विनियमित होंगी। इस प्रकार संहिता में याचिका या प्रत्याहरण और परित्याग करने से संबंधित उपबन्धों के प्रति निर्देश करना आवश्यक है। आदेश 23, नियम 1 में किसी वाद के प्रत्याहरण और परित्याग के लिए प्रक्रिया विहित की गई है। आदेश 23 के नियम 1 का उपनियम (5) एक या अधिक वादियों द्वारा संयुक्त रूप से पेश किए गए किसी वाद का या दावे के किसी भाग का प्रत्याहरण

या परित्याग अनुज्ञात करने की न्यायालय की शक्ति से संबंधित है। आदेश 23 के नियम 1 का उपनियम (5) इस प्रकार है :—

"(5) इस नियम की किसी बात के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह न्यायालय को अमुक वादियों में से एक वादी को उपनियम (1) के अधीन वाद का या दावे के किसी भाग का परित्याग करने या किसी वाद या दावे का अन्य वादियों की सहमति के बिना उपनियम (3) के अधीन प्रत्याहरण, करने की अनुज्ञा देने के लिए प्राधिकृत करती है।"

इस प्रकार जब वाद दो या अधिक वादियों द्वारा फाइल किया जाता है तो न्यायालय अनेक वादियों में से एक वादी को अन्य वादियों की सहमति के बिना वाद का या दावे के किसी भाग का, परित्याग करने की अनुज्ञा नहीं दे सकता।

10. अधिनियम की धारा 13ख(1) में किसी याचिका का संयुक्त रूप से पेश किया जाना अनुध्यात है। यह एक या अधिक वादियों द्वारा संयुक्त रूप से फाइल किए गए किसी वाद के समानहै। **इसलिए जिस प्रकार वाद का या किसी दावे के किसी भाग का परित्याग या प्रत्याहरण एक वादी द्वारा नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार याचिका के पक्षकारों में से एक को याचिका या प्रार्थना का, अन्य पक्षकार की सहमति के बिना प्रत्याहरण या परित्याग करने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती।** दूसरे शब्दों में, अधिनियम की धारा 13ख(1) के अधीन पेश की गई कोई याचिका भी एक पक्षकार द्वारा एकपक्षीय रूप से प्रत्याहृत नहीं की जा सकती। किन्तु यदि न्यायालय का समाधान हो जाता है कि सहमति स्वतंत्र सहमति नहीं थी और बल, कपट या असम्यक् असर के परिणामस्वरूप थी तो यह एक भिन्न मामला है क्योंकि ऐसी दशा में न्यायालय डिक्री मंजूर करने से इन्कार करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से सशक्त है। विधान-मंडल ने विवाह के शीघ्र विघटन के लिए उपबन्ध करने के लिए हिंदू विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा अधिनियम में धारा 13ख सम्मिलित की जब उसने पाया कि विवाह बचने योग्य नहीं है। विधान-मंडल ने पक्षकारों को सुलह के लिए और अवसर प्रदान करने के लिए प्रथम प्रस्ताव और दूसरे प्रस्ताव के बीच छह मास की अवधि के अन्तराल के लिए उपबन्ध किया यदि एक पक्षकार को तब सहमति का प्रत्याहरण करने की अनुज्ञा दी जाती है जब अन्य आधार अर्थात् कि पक्षकार अलग-अलग रह रहे हैं और वे एक साथ नहीं रह सके हैं, अभी भी विद्यमान है और सुलह संभव नहीं है तब इससे अधिनियमिति का प्रयोजन ही विफल हो जाएगा। पक्षकारों में से एक का, जिसने दूसरा प्रस्ताव फाइल करने के लिए छह मास से अधिक के लिए प्रतीक्षा की है, मूल्यवान समय नष्ट हो जाएगा और किसी पक्षकार को जो तंग करना चाहता है और न्यायालय की आदेशिकाके दुरूपयोग का दोषी है, लाभ पहुंचेगा। यह स्थिति अधिनियम की धारा 23(1) में उपधारा (खख) का अन्त:स्थापन करके और स्पष्ट की गई है। इस धारा के अधीन न्यायालय किसी अप्रतिवादित मामले में भी डिक्री मंजूर करने के लिए सशक्त है यदि उसका समाधान हो जाता है कि याचिका में किए गए प्रकथन सही हैं और पारस्परिक विवाह-विच्छेद के लिए डिक्री, बल, कपट या असम्यक् असर द्वारा अभिप्राप्त नहीं की गई है। मेरी राय में क्योंकि दूसरा प्रस्ताव जैसा वह धारा 13ख(2) में अनुध्यान है संयुक्त प्रस्ताव के रूप में होना है, वर्तमान जैसे मामले में धारा 23 तब प्रवर्तन में आ जाएगी जब पक्षकारों में से एक, दूसरे प्रस्ताव में संयुक्त होने से इन्कार करता है और दूसरे पक्षकार को अधिनियम की धारा 13ख(1) के अधीन पहले ही पेश की गई याचिका पर आदेशों के लिए 18 मास की विनिर्दिष्ट अवधि की समाप्ति के पूर्व न्यायालय को आवेदन करने के सिवाय कोई विकल्प नहीं है। **यदि सहमति के एकपक्षीय रूप से प्रत्याहरण की अनुज्ञा दी जाती है तो न्यायालय अधिनियम की धारा 23(खख) के अधीन किसी अप्रतिवादित मामले में डिक्री पारित करने के लिए समर्थ नहीं होगा।** इसलिए मैं प्रत्यर्थी के विद्वान परामर्शी का यह प्रतिवरोध स्वीकार करने में असमर्थ हूं कि वह यह साबित किए बिना कि सहमति बल, कपट या असम्यक् असर द्वारा अभिप्राप्त की गई थी वह अपनी सहमति एक पक्षीय रूप से प्रत्याहृत कर सकता है।

[बल जोड़ा गया है]



4.3.3. यही विचार मुम्बई उच्च न्यायालय का है जैसा वह पैरा 11 से अवतरित लेखांश में प्रतिबिंबित है :—

"11..... ऊपर वर्णित परिस्थितियों से निश्चित रूप से दर्शित होगा कि पति ने पत्नी के साथ पारस्परिक सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद के लिए याचिका फाइल की और ऐसा करते समय उसने स्वेच्छा से कार्य किया। भ्रामक मन:स्थिति का कोई प्रश्न नहीं था। इस प्रकार यह एक ऐसा मामला है जहां प्रचुर मात्रा में साक्ष्य यह दर्शित करने के लिए है कि उस समय जब आवेदन किया गया था तब पति और पत्नी परस्पर रूप से सहमत हुए थे कि विवाह का विघटन कर दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार अनेक परिस्थितियां यह दर्शित करती हैं कि पक्षकार एक वर्ष से अधिक समय तक अलग-अलग रह रहे हैं और उनके एक साथ रहने की कोई संभावना नहीं थी। विवाह-विच्छेद के लिए संयुक्त आवेदन करने के लिए धारा 13ख के अधीन सभी अपेक्षाएं ये ही हैं। एक बार ये अपेक्षाएं साबित हो जाती हैं, न्यायालय के लिए यह आवश्यक होगा कि वह विवाह-विच्छेद के लिए डिक्री मंजूर करे। **यह तथ्य कि पश्चात्वर्ती किसी प्रक्रम पर दोनों में कोई पक्षकार विवाह-विच्छेद नहीं चाहता है, असंगत होगा। तात्विक बात यह है कि क्या ऊपर वर्णित अपेक्षाएं तब विद्यमान थीं जब याचिका फाइल की गई थी।"**

[बल जोड़ा गया है]

4.3.4. **प्रतिकूल विचार, की सहमति पति-पत्नी दोनों में से एक द्वारा एकपक्षीय रूप से प्रत्याहृत की जा सकती है, इस लेखांश में स्पष्ट किए गए तर्क द्वारा समर्थित है :—**

"9. पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीश के प्रति अत्यधिक आदर सहित हम इस बात से सहमत होने में असमर्थ हैं कि पक्षकारों द्वारा धारा 13ख(1) के अधीन कोई याचिका हस्ताक्षरित और फाइल करने के पश्चात् वह उनमें से एक द्वारा प्रत्याहृत नहीं की जा सकती। अधिनियम की धारा 13ख(2) में विहित शर्त से ही अर्थात् कि याचिका पर दोनों पक्षकारों के प्रस्ताव पर ही विचार किया जाना है, अभिप्रेत है कि यदि पक्षकारों में से एक याचिका के पेश किए जाने की तारीख से छह मास के पश्चात् याचिका पर गुणागुण के आधार पर विचार किए जाने के लिए प्रस्ताव करने के लिए दूसरे पक्षकार के साथ सम्मिलित होने से इन्कार करता है तो याचिका पर गुणागुण के आधार पर विचार असंभव हो जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि जबकि याचिका को संयुक्त रूप से प्रत्याहृत करने के लिए दोनों पक्षकार स्वतंत्र है, पक्षकारों में से एक इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि वह अपने विकल्प पर याचिका पर विचार के लिए प्रस्ताव करने के लिए दूसरे पक्षकार के साथ सम्मिलित न हो जिस दिशा में न्यायालय को याचिका पर गुणागुण के आधार पर विचार करने की कोई शक्ति नहीं है। ऐसा ही इस मामले में हुआ है। इसलिए विद्वान न्यायाधीश के पास याचिका खारिज कर देने के सिवाय कोई विकल्प नहीं था। वास्तव में, जैसा पहले दर्शित किया गया है, अपीलार्थी ने भरण-पोषण के लिए आवेदन पर अपनी आपत्ति में स्वयं ही ऐसा कथन किया है कि चाहे इस अपील में उसके प्रतिकूल प्रतिविरोध किया है।

10. हमारे विचार को कृष्णमूर्ति राव बनाम कामालाक्षी, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1983, कर्नाटक 235 में इस न्यायालय के खण्ड के पीठ के निर्णय से समर्थन मिलता है। उस मामले में जगन्नाथ शेट्टी न्यायाधीश ने (जो तत्समय उस रूप में कार्य कर रहे थे) अभिनिर्धारित किया कि **विवाह-विच्छेद के लिए कोई डिक्री पारित करने के संदर्भ में सहमति युगलाई की तारीख को विद्यमान होनी चाहिए। इसलिए याचिका की तारीख को दी गई सहमति अन्तिम और प्रतिसंहरणीय नहीं है।** यदि ऐसा है तो विधान-मंडल को धारा 13ख(2) में दो शर्तें अर्थात् (1) याचिका पर विचार करने के लिए छह मास की अवधि का वर्जन और (2) याचिका पर विचार दोनों पक्षकारों के प्रस्ताव पर ही हो सकता है, अधिरोपित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसलिए हमारा यह विचार है कि प्रत्यर्थी याचिका में दी गई विवाह-विच्छेद के लिए सहमति का प्रत्याहरण करने की हकदार है और जब उसने ऐसा किया तो न्यायालय याचिका को खारिज करने में ठीक था, वास्तव में उसके पास कोई अन्य विकल्प नहीं था।"

[बल जोड़ा गया है]

4.3.5. **दिल्ली विचार में त्रुटि**—दिल्ली उच्च न्यायालय ने दो वादियों द्वारा सिविल वाद की जो, वादियों में से केवल एक द्वारा प्रत्याहृत नहीं किया जा सकता, सदृश्यता पर गलती से निष्कर्ष निकाला है। इस बात की अनदेखी की गई है कि दोनों वादियों का किसी एक प्रतिवादी के विरुद्ध अनुतोष पाने में संयुक्त और सांझा हित है और वादियों में से एक, दूसरे के हित का परित्याग नहीं कर सकता। इसके प्रतिकूल पति-पत्नी दोनों द्वारा सहमति से विवाह-विच्छेद के लिए पेश की गई याचिका में, पेश किए जाने की प्रक्रम पर उनकी सहमति के सिवाय पति-पत्नी दोनों का हित विवादग्रस्त है। कोई सांझा प्रतिवादी नहीं है, जिसके विरुद्ध उन्हें संयुक्त रूप से सांझा हित चाहिए, जो किसी एक द्वारा दूसरे का अपाय करके, परित्यक्त नहीं किया जा सकता। अति महत्वपूर्ण विभेद की अनदेखी की गई है। और क्या है दिल्ली उच्च न्यायालय ने धारा 13ख (2) द्वारा प्रस्तुत अजेय कठिनाई के प्रति जागरूकता नहीं दिखाई है, जिसमें यह परिकल्पित है कि डिक्री के लिए (याचिका पेश करने के पश्चात् कम से कम छह मास) दोनों पक्षों द्वारा संयुक्त प्रस्ताव किया जाएगा। निश्चित रूप से पुनर्विचार करने वाले पति या पत्नी को डिक्री के लिए संयुक्त प्रस्ताव करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। इस कठिनाई का कोई उत्तर नहीं है और उच्च न्यायालय ने कोई उत्तर ढूंढने का प्रयत्न नहीं किया है। इसलिए दिल्ली और मुम्बई का विचार बिलकुल टिकाऊ नहीं है।

4.3.6. **आयोग इस विचार की सिफारिश क्यों करता है कि सहमति का पति-पत्नी दोनों में से किसी एक द्वारा एकपक्षीय रूप से प्रत्याहरण किया जा सकता है**—पांच अच्छे कारण हैं जिनसे आयोग यह निष्कर्ष निकालने के लिए उत्प्रेरित हुआ है कि यह विचार की सहमति न्यायालय द्वारा अन्तिम आदेश पारित किए जाने के पूर्व किसी भी समय एकपक्षीय रूप से प्रत्याहृत की जा सकती है जैसा कि (मुंबई और दिल्ली उच्च न्यायालयों से मतभेद करते हुए) पंजाब, कर्नाटक और केरल के उच्च न्यायालयों द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है :—

(1) **सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद के लिए डिक्री मंजूर करने वाले न्यायालय के अन्तिम आदेश के पारित होने तक पति-पत्नी दोनों की सहमति विद्यमान होनी चाहिए।** कोई भी सहमति द्वारा डिक्री, भूतकाल में उस समय जब याचिका हस्ताक्षरित और फाइल की गई थी, एक बार दी गई सहमति के आधार पर पारित नहीं की जा सकती। न्यायालय के लिए पति-पत्नी में से एक द्वारा विशेष प्राख्यान के होते हुए कि विवाह संबंधी किसी मामले में जिससे उस पति का पत्नी के जीवन और भविष्यत् प्रास्थिति पर गंभीर प्रतिघात होंगे, जिसे हस्ताक्षर करने के पश्चात् पुनर्विचार करने पर ऐसा करने की बुद्धिमत्ता की बाबत संदेह है, तथाकथित "सहमति डिक्री" पारित किए जाने के समय, कोई सहमति नहीं है, डिक्री पारित करना अनुचित और बेतुका होगा।

(2) **सहमत होने वाले पति या पत्नी के विकल्प को जैसा वह सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद पाने के लिए याचिका पेश करने की तारीख को था, स्थायी करने के लिए तर्कशास्त्र और विधि में कोई आधार नहीं है।**

(3) न्यायालय में समावेदन करने से पूर्व पति-पत्नी दोनों को छह मास के लिए प्रतीक्षा करने के लिए विवश करने वाले धारा 13ख(2) में अंगीभूत विधायी आदेश में **आवश्यक विवक्षा द्वारा इस उपबन्ध के प्रत्यक्ष "प्रयोजन" के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त का उपबन्ध है अर्थात् "पुनर्विचार"** तथा उसके अनुसरण में संभाव्य सुलह के लिए **समय** देना अर्थात् पुरोभाव्य शर्त का आदेश है।

(4) **पति-पत्नी "दोनों" द्वारा किए जाने के लिए अपेक्षित सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद के लिए डिक्री के लिए** "प्रस्ताव" का पालन नहीं किया जा सकता यदि पति-पत्नी में से एक प्रस्ताव करने में सम्मिलित होने के लिए तैयार नहीं है। **निश्चित रूप से वह पति या पत्नी, जो आगे सहमति नहीं देता/देती है** धारा 13ख(2) द्वारा यथादिष्ट डिक्री के लिए प्रस्ताव करने में सम्मिलित होने के लिए "विवश" नहीं किया जा सकता/की जा सकती।

(5) पति-पत्नी में से एक द्वारा अभिव्यक्त प्राख्यान के होते हुए, कि अंतिम आदेश पारित करने के वास्तविक रूप से निर्णायक समय पर कोई सहमति नहीं थी, सहमति द्वारा डिक्री पारित करना विधि के अक्षरों और भाव के पूर्णतया विरुद्ध करना होगा।



**इसलिए आयोग की यह सिफारिश करने में कोई संकोच नहीं है कि धारा 13ख में इस प्रभाव का एक स्पष्टीकरण जोड़ा जाए कि पति-पत्नी दोनों की संयुक्त याचिका में दी गई सहमति उस समय भी विद्यमान होना चाहिए जब न्यायालय यथाप्रार्थित डिक्री मंजूर करने वाला अन्तिम आदेश पारित करता है।**

4.4. **क्या हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन किसी याचिका के संस्थित किए जाने के पश्चात् पति-पत्नी में से एक का आपत्तिजनक और क्रूर आचरण जांच के लिए खुला होना चाहिए? या क्या इस पर विचार बंद कर देना चाहिए?** इस प्रश्न पर विनिश्चयों में परस्पर विरोध है कि क्या विवाह विषयक कोई याचिका फाइल करने के पश्चात् किसी व्यक्ति के आचरण को, विशिष्ट रूप से वहां जहां अभिकथित आचरण क्रूरता की कोटि में आता है, अनुतोष देते समय गणना में लिया जाए।

## जांच की जा सकती है

4.5. दिल्ली के एक मामले[12] में वादी प्रति की प्रति-परीक्षा में यह कथन किया गया कि उसके किसी ख के साथ अयुक्त संबंध थे। बाद में, प्रत्यर्थी पत्नी ने अपने कथन में अपने अभिकथन में सुधार किया और कहा कि उसने पति को ख के साथ छिपे हुए और ख के साथ सहवास करने की स्थिति में सोए हुए देखा था। याचिका में पति द्वारा इस लांछन के आधार का अभिवाक् नहीं किया गया था। यह प्रति विरोध किया गया कि क्योंकि क्रूरता की इस विशेष बातों को अभिवचनों में आरम्भ में या संशोधन के रूप में नहीं लिया गया था, न्यायालय द्वारा इस पर विचार नहीं किया जा सकता। विद्वान एकल न्यायाधीश ने सुसंगत निर्णयों की अवेक्षा की और प्रतिविरोध से असहमत होते हुए यह संप्रेषण किया :—

> "मैंने इन मामलों पर विचार किया है किन्तु उनमें केवल साधारण नियम का कथन है जबकि यह भी अच्छी प्रकार तय किया गया है कि इस नियम के अपवाद हैं और आपवादिक मामलों में न्यायालय उन घटनाओं को, जो वाद फाइल करने के पश्चात् घटी हों विचार में ले सकता है और उनके आधार पर वहां अनुतोष दे सकता है जहां आरम्भ में दावा किया गया अनुतोष परिवर्तित परिस्थितियों के कारण अपर्याप्त हो गया हो और जहां यह अनावश्यक मुकदमे बाजी को लघुकृत करने के लिए या न्याय के सारवान हित का साधन करने के लिए आवश्यक प्रतीत हो **रामदयाल बनाम भाजी देवजीजी**, अखिल भारतीय रिपोर्टर 1956 राजस्थान 12 जिसका मैंने परिहार बनाम परिहार अखिल भारतीय रिपोर्टर 1978, राजस्थान 140 में अनुसरण किया। विवाह विषयक मामलों में न्याय के हित का साधन करने के लिए अपवादों को लागू करना चाहिए और पक्षकारों को पश्चात्वर्ती घटनाओं के आधार मुकदमे बाजी का नया दौर आरम्भ करने के लिए विवश नहीं करना चाहिए और उनके जीवन का बहुमूल्य काल बर्बाद होने की अनुज्ञा नहीं देनी चाहिए। ऐसा, मामले की प्रकृति पर आश्रित होते हुए, करना चाहिए क्योंकि ये पक्षकार ही नहीं हैं जो मामले से संबंधित हैं किन्तु न्यायालय को कुछ मात्रा तक अपने कर्तव्य और विवेक का प्रयोग करना होता है। अनुतोष पूर्णतया उसके समाधान पर निर्भर करता है। इसी कारण **चांद नारायण बनाम श्रीमती सरोज** 1975, विधि रिपोर्टर 494 (राजस्थान) अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1975 राजस्थान 88 में प्रति-परीक्षा में प्रकाश में लाया गया तथ्य क्रूरता गठित करने के बारे में विचार में लिया गया चाहे उसका अभिवाक् नहीं किया गया था। **कुन्दन लाल बनाम कांता रानी**, 1979 विवाह विषयक विधि रिपोर्टर 352 (पंजाब और हरियाणा) में पति ने अक्षमता और अभित्यजन के लिए अपने वाद में पत्नी के विरुद्ध अन्यायपूर्ण नपुंसकता का अभिवाक् किया, पत्नी ने अपने लिखित कथन में यह नहीं कहा कि नपुंसकता का मिथ्या आरोप क्रूरता कि कोटी में आता है और आगे यह भी **अभिवाक नहीं किया** कि उसके विरुद्ध चोरी की रिपोर्ट पुलिस में की गई थी किन्तु अभिलेख पर यह सभी साबित किया गया। यह अभिनिर्धारित किया गया कि पत्नी को अपने पति के साहचर्य से अपने आप को प्रत्याहृत करने के लिए औचित्य था। मेरा यह विचार है कि विद्वान विचारण न्यायाधीश के पास यह अभिनिर्धारित करने के लिए औचित्य था कि वह प्रतिपरीक्षा के समय और पत्नी द्वारा अपने अभिसाक्ष्य में किए गए जारता के अभिकथन को विचार में ले सकता था।"

यह विचार दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा 1987 में पुनः [13], [14] अभिपुष्ट किया गया।

4.6. हिमाचल प्रदेश के एक मामले में भरणपोषण[15] के एक मामले में पश्चात्वर्ती एक अभिकथन को गणना में लिया गया।

## जांच नहीं की जा सकती

4.7. **इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विचार के अनुसार लिखित कथन में अभिकथन की, वाद हेतुक प्रदान करने के लिए, जांच नहीं की जा सकती।**

संबद्ध संप्रेक्षण निम्न प्रकार है :—

"पक्षकारों के विद्वान परामर्शी को अपील के गुणागुण पर सुनने के पश्चात् मैं पाता हूं कि इसमें कोई नहीं है। मैंने पति की आरम्भिक याचिका में उसके द्वारा किए गए अभिकथनों का पहले ही विस्तार पूर्वक परिवर्णन किया है और यह भी संकेत किया है कि यदि याची द्वारा उसकी मूल याचिका में कथित किए गए तथ्यों को उन्हें देखकर ही स्वीकार कर लिया जाए तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यर्थी के विरुद्ध न्यायिक पृथक्करण या विवाह-विच्छेद के लिए क्रूरता या अभित्यजन का कोई भी मामला बनता है। निचले अपील न्यायालय ने इस बात पर चर्चा करते समय कि क्या पत्नी द्वारा पति को उसकी भाभी के साथ घनिष्ठता के बारे में किए गए अभिकथन मिथ्या है और क्या वे विधि में क्रूरता की कोटि में आते हैं, प्रत्यर्थी पत्नी द्वारा उसके लिखित कथन में किए गए कुछ कथनों का परिवर्णन किया है। अब मुझे आरम्भ में ही संप्रेक्षण करना चाहिए कि किसी अनुतोष के लिए वाद हेतुक का अवसर देने के लिए कोई तथ्य कार्रवाई संस्थित करने के पूर्व विद्यमान होना चाहिए। परिणामस्वरूप पत्नी द्वारा अपने लिखित कथन में किया गया कोई अभिकथन पति की याचिका पर अनुतोष मंजूर करने के लिए कोई वाद हेतुक नहीं दे सकता और इसलिए मेरा विचार है कि पत्नी द्वारा अपने लिखित कथन में किए गए अभिकथन वर्तमान मामलों में पति को अनुतोष मंजूर करने के लिए कोई आधार प्रदान नहीं कर सकते थे। निचले अपील न्यायालय द्वारा उसकी चर्चा नहीं करनी चाहिए थी। याचिका पेश करने से पूर्ववर्ती तथ्यों के संबंध में मैं निचले अपील न्यायालय द्वारा साक्ष्य के निर्धारण पर पहुंचे गए निष्कर्ष से मैं सहमत हूं कि उनमें से कोई भी क्रूरता की कोटि में नहीं आता और पति तथा उसकी भाभी के बीच अयुक्त संबंधों का अभिकथन, जो उसके विरुद्ध पत्नी द्वारा लगाया गया कहा जाता है वर्ष 1969 में पति और पत्नी के बीच सहवास द्वारा माफ कर दिया समझा जाना चाहिए, जिसके परिणामस्वरूप 12-5-1970 को या उसके आस-पास एक बच्चे का जन्म हुआ जिसके पश्चात् पक्षकार एक साथ नहीं रहे।"

4.8. **पंजाब उच्च न्यायालय ने भी इस प्रतिपादना का समर्थन किया है कि ऐसे पश्चात्वर्ती कथनों को गणना में नहीं लिया जा सकता।**

4.9. **आयोग इस विचार का क्यों समर्थन करता है कि विवाद विषयक याचिका संस्थित करने के पश्चात् किसी पति या पत्नी के आचरण की जांच की जाना अनुज्ञात किया जाना चाहिए।**

आयोग की विचारपूर्ण राय में इस महत्वपूर्ण विषय पर परस्पर विरोध का, विधि के सुसंगत उपबन्धों के स्पष्टीकरण संशोधन द्वारा समाधान किए जाने की आवश्यकता है जिससे उन उच्च न्यायालयों द्वारा, जिनकी यह राय है कि किसी पति या पत्नी का आचरण विचार से मात्र इस आधार पर अपवर्जित नहीं किया जाना चाहिए कि शिकायत किया गया आचरण याचिका के संस्थित किए जाने के समय के पश्चात् का है किन्तु इस शर्त के अधीन रहते हुए कि न्यायालय संबद्ध अभिवचन को संशोधित किए जाने का हठ, उस विषय को केन्द्रित करने के लिए कर सकेगा, प्रतिपादित विचार को अंगीकार किया जा सके। यदि सम्बद्ध पति या पत्नी से हुआ माना गया पश्चात्वर्ती आचरण ऐसा है कि वह न्यायालय के समक्ष लाई गई विवाह विषयक समस्या से संबंधित है तो ऐसे आचरण से संबंधित बात की जांच करने से इंकार करने के लिए कोई वैध कारण नहीं है। न्यायालय से पक्षकारों के बीच पूर्ण न्याय करने के लिए चिंतित



होने की साधारण तया प्रत्याशा की जाती है और जांच से अन्यथा सुसंगत बातों को निकाल देने या अपवर्जित करने की प्रत्याशा नहीं की जाती। **क्योंकि ऐसी बातों की जांच करने से इन्कार करने से समस्याओं को किसी समाधानप्रद रीति से हल करने के लिए अशक्त होना या कुछ समस्याओं को अत्यधिक तकनीकी बातों पर इन्कार करना संभाव्य है।** न्यायालय पश्चात्वर्ती आचरण की छानबीन के द्वार को बन्द करके तथ्यों का सामना करने से इंकार नहीं कर सकता। इस विषय को उचित रूप से समझने के लिए कुछ दृष्टांत उपयोगी होंगे। दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए कोई डिक्री चाहने वाले किसी पति का मामला लें। **यदि याचिका के संस्थित किए जाने के पश्चात् वह प्रत्यर्थी पत्नी पर हमला करता है या जारता के आचरण से आरोप लगाता है या किसी स्त्री मित्र के साथ रहने लग जाता है तो क्या ऐसा पश्चात्वर्ती आचरण पत्नी को न्याय देने से इन्कार करने की जोखिम के बिना विचार से अपवर्जित किया जा सकता है?** क्या न्यायालय "पश्चात्वर्ती आचरण से परे रहो" कि उक्ति को अंगीकार करके साहसिक पति के पक्ष में दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए डिक्री पारित करने के लिए अग्रसर होना उचित समझेगा?

4.10. **इसलिए इस विषय पर विधि को विधायी व्याख्या की आवश्यकता है जिससे पश्चात्वर्ती आचरण और पश्चात्वर्ती घटनाओं को गणना में लेने के लिए न्यायालय को सशक्त किया जा सके।** आयोग की राय में सर्वोत्तम तरीका हिन्दू विवाह अधिनियम में निम्नलिखित प्रभाग की एक धारा अर्थात् धारा 21ख (1क) का अन्तःस्थापन होगा जो धारा 21ख(1) और 21ख(2) के बीच अन्तःस्थापित की जाएगी।

"21ख(1क) **पश्चात्वर्ती घटनाएं**—इस अधिनियम के अधीन अनुतोष मंजूर करने में न्यायालय को याचिका के, जिसके अन्तर्गत किसी पक्षकार द्वारा अभिवचनों में या न्यायालय के समक्ष साक्ष्य के अनुक्रम में या शपथपत्रों में या अन्यथा किए गए कथन हैं, फाइल करने के पश्चात् घटनाओं को गणना में लेने की शक्ति होगी किन्तु न्यायालय न्याय के हितों में किसी विशेष मामले में ऐसा करने से इन्कार कर सकेगा जब तक कि यथास्थिति याचिका में या उसके उत्तर में, जैसी वह आरम्भ में फाइल की गई थी या न्यायालय की इजाजत से बाद में संशोधित की गई थी, ऐसी घटनाओं पर आधारित कोई अभिवाक् विनिर्दिष्ट रूप से नहीं किया जाता है।"

4.11.1. **क्या किसी प्रत्यर्थी को भरणपोषण मंजूर करने वाला आदेश वादी द्वारा दावाकृत अनुतोष से इन्कार करते हुए और उसकी याचिका खारिज करते हुए पारित किया जा सकता है।** हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 25 उस अधिनियम के अधीन कोई डिक्री पारित करते समय (पति या पत्नी द्वारा किए गए आवेदन पर) या किसी पश्चात्वर्ती समय पर भरणपोषण के लिए आदेश पारित करने के लिए न्यायालय को अधिकारिता प्रदान करती है। इसमें यह उपबन्ध है:—

"25. **स्थायी निर्वाहिका और भरणपोषण**— (1) इस अधिनियम के अधीन अधिकारिता का प्रयोग कर रहा कोई भी न्यायालय, कोई **डिक्री पारित करने के समय या उसके पश्चात् किसी भी समय,** यथास्थिति, पति या पत्नी द्वारा इस प्रयोजन से किए गए आवेदन पर, यह आदेश दे सकेगा कि प्रत्यर्थी उसके भरणपोषण और संभाल के लिए ऐसी कुल राशि या ऐसी मासिक अथवा कालिक राशि, जो प्रत्यर्थी की अपनी आय और अन्य सम्पत्ति को यदि कोई हो, आवेदक या आवेदिका की आय और अन्य सम्पत्ति को तथा पक्षकारों के आचरण और मामले की अन्य परिस्थितियों को देखते हुए न्यायालय को न्यायसंगत प्रतीत हो, आवेदक या आवेदिका के जीवन काल से अनधिक अवधि के लिए संदत्त करे और ऐसा कोई भी संदाय यदि यह करना आवश्यक हो, तो प्रत्यर्थी की स्थावर सम्पत्ति पर भार द्वारा प्रतिभूत किया जा सकेगा।

(2) यदि न्यायालय का समाधान हो जाए कि उसके उपधारा (1) के अधीन आदेश करने के पश्चात् पक्षकारों में से किसी की भी परिस्थितियों में तब्दीली हो गई है तो वह किसी भी पक्षकार की प्रेरणा पर ऐसी रीति से जो न्यायालय को न्यायसंगत प्रतीत हो ऐसे किसी आदेश में फेरफार कर सकेगा या उसे उपान्तरित अथवा विखंडित कर सकेगा।

(3) यदि न्यायालय का समाधान हो जाए कि उस पक्षकार ने, जिसके पक्ष में इस धारा के अधीन कोई आदेश किया गया है, पुनर्विवाह कर लिया है या यदि ऐसा पक्षकार पत्नी है तो वह सतीव्रता नहीं रह गई है, या यदि ऐसा पक्षकार पति है तो उसने किसी स्त्री के साथ विवाहबाह्य मैथुन किया है तो दूसरे पक्षकार की प्रेरणा पर ऐसे किसी आदेश को ऐसी रीति में जो न्यायालय न्यायसंगत समझे, परिवर्तित, उपान्तरित का विखंडित कर सकेगा ।"

[बल जोड़ा गया है]

बहुत से उच्च न्यायालयों का यह विचार है कि इस शक्ति का वहां प्रयोग नहीं किया जा सकता जहां विवाह-विच्छेद के लिए याचिका **खारिज कर दी जाती है** क्योंकि इन उच्च न्यायालयों के अनुसार "डिक्री पारित की जाती है" पद केवल ऐसे मामलों के प्रति निर्देशयोग्य है जहां अधिनियम के अधीन अनुतोषों में से एक मंजूर करने वाली कोई डिक्री न्यायालय द्वारा पारित की जाती है । दूसरे शब्दों में, **इन न्यायालयों की राय में किसी न्यायालय द्वारा अधिनियम के अधीन कोई मुख्य अनुतोष इन्कार करते हुए उसके परिणामस्वरूप मुख्य याचिका को खारिज करते हुए भरणपोषण मंजूर करने वाला कोई आदेश पारित नहीं किया जा सकता ।**

जिन उच्च न्यायालयों ने यह विचार प्रतिपादित किया है, वे हैं :—

(1) कलकत्ता[18],
(2) गुजरात[19],
(3) उड़ीसा[20],
(4) पंजाब और हरियाणा,[21] और
(5) राजस्थान[22] ।

4.11.2. **भरणपोषण मंजूर किया जा सकता है—प्रतिकूल विचार** —स्वयं मुम्बई उच्च न्यायालय में इस बात पर परस्पर विरोध है । इस उच्च न्यायालय के एक विद्वान, एकल न्यायाधीश ने उपर्युक्त उच्च न्यायालयों द्वारा अभिनिर्धारित विचार से 1962 में सहमति प्रकट की है । **किन्तु एक अन्य विद्वान एकल न्यायाधीश ने 1987 में प्रतिकूल विचार प्रकट किया है और अभिनिर्धारित किया है कि प्रत्यर्थी के पक्ष में भरणपोषण का आदेश उस मामले में भी पारित किया जा सकता है जहां मुख्य अनुतोष से इन्कार किया जाता है और मुख्य याचिका खारिज[23] की जाती है।** उसके पश्चात् एक अन्य विद्वान एकल न्यायाधीश[24] 1989 में इस विचार से सहमत हुआ है ।

4.11.3. **आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने अपने हाल ही के निर्णय में अभिनिर्धारित किया है कि अधिनियम की धारा 25 के अधीन भरणपोषण मंजूर करने की शक्ति का प्रयोग वहां भी किया जा सकता है जहां वाद या याचिका खारिज की जाती है ।** यह विचार अभिव्यक्त किया गया है कि इस धारा में किसी ऐसी परिसीमा की त्रुटि नहीं है जैसा की धारणा उच्च न्यायालयों द्वारा की गई है जिनके विनिश्चयों के प्रति इसमें इसके पूर्व निर्देश किया गया है । उसकी राय में किसी डिक्री से न्याय निर्णयन की कोई अभिव्यक्ति अभिप्रेत है । इस बात पर ध्यान दिए बिना कि वाद या याचिका मंजूर या खारिज की जाती है न्यायालय का आदेश एक डिक्री गठित करता है और धारा 25 में "डिक्री पारित करने के समय" पद से केवल "मामले का निपटारा करने के समय" अभिप्रेत है । और आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के विचार के अनुसार भरणपोषण मंजूर करने की शक्ति याचिका के निपटारे की मुख्य शक्ति की अनुषंगी है ।

4.11.4 **परस्पर विरोध का कैसे समाधान किया जाए**— उपर्युक्त केन्द्रीय अधिनियम के समरूप उपबन्ध का विवाह विषयक न्यायालय को एक राज्य में याची द्वारा दावाकृत मुख्य अनुतोष इन्कार करने वाली कोई डिक्री पारित करने के समय भरणपोषण मंजूर करने के लिए अधिकारिता प्रदान करने वाले उपबन्ध के रूप में निर्वचन करना तथा उसका इस प्रकार निर्वचन करना कि उस न्यायालय को एक अन्य राज्य में ऐसी शक्ति नहीं होगी, विषम और अन्यायपूर्ण होगा । इसलिए भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र में जिसको यह अधिनियम लागू है इस क्षेत्र में विधि के प्रशासन में एकरूपता लाने के लिए कानूनी व्याख्या आवश्यक है । **आयोग की विचारपूर्ण राय में परस्पर विरोध को, आन्ध्र प्रदेश उच्च**



**न्यायालय द्वारा और मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा उसके 1987 और 1989 के दो विनिश्चयों में प्रतिपादित विचार को स्वीकार करके समाधान करना अपेक्षित है अर्थात् यह विचार की अधिनियम के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने वाला न्यायालय, याची द्वारा दावाकृत मुख्य अनुतोष इन्कार करने और उसका दावा खारिज करने के समय भी भरण-पोषण मंजूर करने के लिए सशक्त है ।** आयोग ने यह राय इसमें इसके पश्चात् व्यक्त किए गए कारणों से बनाई है ।

4.11.5. **कारण**—पांच उच्च न्यायालय, जिनकी यह राय है कि न्यायालय को उस मामले में भरण-पोषण मंजूर करने की कोई शक्ति नहीं है जहां याची की मुख्य याचिका खारिज की जाती है इस तर्क से प्रभावित हुए हैं कि जब मुख्य याचिका खारिज की जाती है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि अधिनियम की धारा 25 के अर्थ में कोई डिक्री पारित की गई है । गुजरात उच्च न्यायालय **हरिलाल** बनाम **लीलावती** में कहता है :

> "हमारे विचार में **किसी याचिका की खारिजी का कोई आदेश इस धारा के अर्थ में कोई डिक्री पारित किया जाना नहीं समझा जा सकता ।" "कोई" शब्द का, जो डिक्री शब्द के पूर्व आता है, प्रयोग विभिन्न प्रकार की डिक्रियों को, जो इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन पारित की जा सकती है, ध्यान में रखते हुए किया गया है ।** डिक्री दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री हो सकती है । यह न्यायिक पृथक्करण के लिए डिक्री हो सकती है । यह विवाह की अकृतता के लिए डिक्री हो सकती है । यह विवाह-विच्छेद के लिए डिक्री हो सकती है । कोई ऐसी डिक्रियां पारित करने के समय या उसके पश्चात् किसी समय इस धारा में यथाउपबन्धित आदेश किए जा सकते हैं ।
>
> * * * * *

हमारे विचार में विधान मंडल द्वारा धारा 25 में प्रयुक्त भाषा ऐसी है कि उसके द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग, अधिनियम के पूर्वतर उपबन्धों में निर्दिष्ट किन्हीं डिक्रियों के पारित करने के समय या उसके पश्चात् किसी समय ही किया जा सकता है । हमारे इस निष्कर्ष को 1960 की प्रथम अपील सं० 178 (गुजरात) में 28 नवम्बर, 1960 को दिए गए मुख्य न्यायमूर्ति एस० टी० देसाई और न्यायमूर्ति बख्शी के अप्रकाशित विनिश्चय से समर्थन मिला है । उस मामले में यह अधिकथित किया गया है कि **धारा 25 केवल अनुषंगी अनुतोष से, जो मुख्य अनुतोष का आनुषंगिक है, संबंधित है, जो न्यायालय** द्वारा मंजूर किया जा सकता है चाहे आनुषंगिक अनुतोष दूसरे पक्षकार को दिया जाए ।

[बल जोड़ा गया है]

यह वह तर्क है जिसका पक्षसमर्थन उपर्युक्त सभी पांचों उच्च न्यायालयों और **शांताराम**[27] के मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश ने किया है किन्तु प्रतिकूल विचार निम्नलिखित तर्क पर, जो आन्ध्र प्रदेश[28] उच्च न्यायालय को अच्छा लगा, आधारित है, अर्थात् :—

> "विधान मंडल का आशय स्पष्ट है क्योंकि विवाह विषयक न्यायालय मामले में कार्यवाही कर रहा है और उसने विवाद के गुणागुण की जांच की है और जानता है कि दोषकर्ता कौन है और न्याय क्या है, इसलिए उसे स्थायी निर्वाहिका का आदेश करने के लिए सशक्त किया जाना चाहिए ।"

**कोई डिक्री पारित करने के अन्तर्गत याचिका की खारिज पारित करना भी है और डिक्री याचिका को मंजूर करने या उसे खारिज करने की डिक्री हो सकती है । "कोई डिक्री" शब्दों में दोनों प्रकार की डिक्रियां आती हैं । अन्यथा शब्द "कोई डिक्री" न होते वरन् मात्र "डिक्री" होते । इसके अतिरिक्त पक्षकारों को किसी अन्य न्यायालय में जाने की अनुज्ञा देने में और एक बार फिर वही वाद लाने में जो वे विवाह विषयक न्यायालय के समक्ष पहले लाए थे, जो उनके कलत्रः मामले का बल जानता है और जिससे न्याय करने की आशा की जा सकती है विशेष रूप से तब जब न्यायालय, कोई जिला न्यायालय या उसके समतुल्य होते हुए देश में वरिष्ठ न्यायालयों में से एक है, कोई अर्थ नहीं है ।**

[बल जोड़ा गया है]

आयोग की राय में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने उस पहलू पर ठीक ही बल दिया है कि किसी न्यायालय द्वारा मुख्य याचिका को खारिज करने वाला पारित कोई आदेश और धारा 25 में विधान मंडल द्वारा प्रयुक्त "कोई डिक्री" पद पर्याप्त रूप से व्यापक है कि अनुतोष मंजूर करने वाली डिक्री तथा अनुतोष इंकार करने वाली डिक्री उसके अन्तर्गत आ जाएं क्योंकि अनुतोष इंकार वाली डिक्री भी **"न्यायालय द्वारा पारित डिक्री"** है विधान मंडल द्वारा धारा 25 में प्रयुक्त "डिक्री पारित करने के समय" पद की बराबरी "अधिनियम के अधीन अनुतोषों में से एक अनुतोष मंजूर करने वाली कोई डिक्री" से नहीं की जा सकती। यदि विधान मंडल का आशय न्यायालय को केवल कोई अनुतोष मंजूर करने के समय के लिए शक्ति प्रदान करना था तो विधान मंडल ने "कोई डिक्री पारित करने के समय" पद प्रयुक्त करने के स्थान पर "कोई अनुतोष मंजूर करने वाली कोई डिक्री" पद का प्रयोग किया होता। प्रतिकूल विचार अत्यन्त संकीर्ण विचार है कि प्रत्युत्पादक साबित होगा और भरण-पोषण मंजूर करने के लिए न्यायालय को शक्ति प्रदत्त करने के प्रयोजन को ही विफल कर देगा। क्योंकि **यदि न्यायालय पति-पत्नी में से एक को अनुतोष देने वाली डिक्री अर्थात् "दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन" की डिक्री पारित कर रहा था तो न्यायालय ऐसा इस आधार पर कर रहा होगा कि पति या पत्नी को अलग रहने के लिए कोई विधिपूर्ण हेतुक नहीं है।** ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचने की दशा में याची के पक्ष में दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए डिक्री मंजूर करते समय कसूरवार पति या पत्नी के पक्ष में भरण-पोषण अधिनिर्णीत करने के लिए संभवतः कोई अवसर न होता। इसी प्रकार यदि न्यायालय याची के पक्ष में **"न्यायिक पृथक्करण"** के लिए डिक्री मंजूर कर रहा था तो न्यायालय ऐसा इस पूर्व प्रतिपादना पर कर रहा होता कि याची के पास प्रत्यर्थी से अलग रहने के लिए विधिपूर्ण आधार था। उस दशा में भी याची के पक्ष में प्रत्यास्थापन के लिए डिक्री पारित करते समय प्रत्यर्थी पति या पत्नी को, जो कसूरवार पाया गया था, भरण-पोषण अधिनिर्णीत करने के लिए संभवतः कोई अवसर नहीं होता। उस मामले में, जहां न्यायालय अकृतता की डिक्री के लिए याची के दावे को मान्य ठहराता है, स्थिति वही होगी। याची के इस दावे को, कि विवाह इस आधार पर कि कोई कपट किया गया है अकृत था, मान्य ठहराते हुए भरण-पोषण अधिनिर्णीत करने के लिए कोई अवसर नहीं होता। **इस प्रकार याची को अनुतोष मंजूर और उसकी याचिका मंजूर करते समय भरण-पोषण अधिनिर्णीत करने के लिए कोई भी अवसर नहीं होगा।** निश्चित रूप से विधान मंडल यह शक्ति अलंकारी प्रयोजनों के लिए प्रदान नहीं कर रहा था जब अधिकतम मामलों में इस शक्ति का प्रयोग करने का अवसर नहीं होगा। इस बात पर ध्यान दिए बिना कि याची को "दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन" या "न्यायिक पृथक्करण" या "अकृतता" के लिए डिक्री का अनुतोष मंजूर किया गया था या उसे ऐसे अनुतोष से इंकार किया गया था, प्रत्यर्थी भरण-पोषण अधिनिर्णीत किए जाने के लिए प्रार्थना नहीं कर सकता था। **यदि याची सफल हुआ और उसके पक्ष में डिक्री पारित की गई थी तो प्रत्यर्थी कसूरवार पति या पत्नी होते हुए, जिसे अलग रहने और भरण-पोषण का दावा करने का कोई अधिकार नहीं था, संभवतः भरण-पोषण का दावा नहीं कर सकता था। याची के असफल होने की दशा में क्योंकि न्यायालय अनुतोष मंजूर करने वाली डिक्री पारित नहीं कर रहा था, प्रत्यर्थी भरण-पोषण के लिए प्रार्थना करने का हकदार नहीं होता। इसलिए, दोनों में से किसी भी दशा में प्रत्यर्थी भरण-पोषण का दावा करने का हकदार नहीं होता। इससे यह अभिप्रेत होगा कि ऐसी किसी शक्ति का प्रयोग केवल विवाह-विच्छेद के लिए डिक्री मंजूर करते समय ही किया जा सकता है और किसी अन्य मामले में नहीं। "डिक्री पारित करने के समय" पद के ऐसे निर्वचन से विवाह विषयक न्यायालय को, ऐसे मामले में भी जहां प्रत्यर्थी पति या पत्नी वह पक्षकार था जिसके साथ अन्याय हुआ है और अलग रहने तथा भरण-पोषण का दावा करने का हकदार था भरण-पोषण अधिनिर्णीत करके न्याय करने के लिए वास्तव में शक्तिहीन बनाने की कोटि में लाना होगा।** जैसे आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने बताया है प्रत्यर्थी पति या पत्नी को दंड संहिता की धारा 125 के अधीन या हिन्दू दत्तक और भरण-पोषण अधिनियम की धारा 18 के अधीन कार्यवाहियां आरंभ करनी होंगी। **परिणाम यह होगा कि उस पति या पत्नी को, जिसके साथ अन्याय हुआ है, दूसरे न्यायालय में जाना पड़ेगा जिसमें प्रचुर मात्रा में समय और धन का व्यय होगा और उक्त पति या पत्नी को बहुत कष्ट होगा।** ऐसी स्थिति जिसका परिणाम उस पति या पत्नी को, जिसके साथ अन्याय हुआ है, कष्ट के अतिरिक्त कार्यवाहियों का बाहुल्य होगा और न्यायालय की, उसी न्यायालय के समक्ष उसी कार्यवाही में न्याय करने की शक्ति को निहित करती है, सृजित करना प्रत्युत्पादक भी होगा। इसलिए



मामले को किसी भी दृष्टि से देखने पर इस परस्पर विरोध का, धारा 25 की उपधारा (1) में एक स्पष्टीकरण जोड़कर समाधान करना समुचित होगा। जिसमें यह उपबन्ध हो कि इस शक्ति का प्रयोग इस बात पर ध्यान दिए बिना किया जा सकेगा कि क्या न्यायालय ने याची द्वारा दावाकृत अनुतोष मंजूर किया या क्या न्यायालय ने याची को अधिनियम के अधीन किसी मुख्य अनुतोष से इन्कार किया और उसकी याचिका को, या तो गुणागुण के आधार पर या याची द्वारा याचिका का प्रत्याहरण कर लेने या असंचालन के लिए खारिज कर दिए जाने के कारण, खारिज किया।

4.12.1. **क्या भरणपोषण का दावा करने वाला कोई आवेदन केवल उसी न्यायालय द्वारा ग्रहण किया जा सकता है जिसने डिक्री पारित की है या अधिनियम की धारा 19 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने वाले किसी अन्य न्यायालय द्वारा भी ग्रहण किया जा सकता है ?** हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 25 के अधीन पैदा होने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न जिसकी बाबत परस्पर विरोधी विनिश्चय हैं, उस न्यायालय के बारे में है जिसको स्थायी निर्वाहिका के लिए आवेदन उक्त धारा के अधीन किया जा सकता है। **पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय[29] का यह विचार है कि यदि अधिनियम के अधीन विवाह-विच्छेद या कोई अन्य अनुतोष पाने के लिए किसी भी याचिका में डिक्री अधिनियम की धारा 19 के अधीन अधिकारिता रखने वाले "एक" विशिष्ट न्यायालय द्वारा पारित की जाती है, तो विरोधी पक्षकार, यथास्थिति स्थायी निर्वाहिका या भरणपोषण पाने के लिए अधिनियम की धारा 19 के अधीन अधिकारिता रखने वाले "किसी" भी न्यायालय से समावेदन कर सकता है।** उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित लेखांश में दिए गए तर्क द्वारा इस निष्कर्ष का समर्थन किया है :—

> "इस बात पर विवाद नहीं किया गया है कि पक्षकारों का विवाह जिला न्यायालय जालंधर की अधिकारिता के भीतर अनुष्ठापित हुआ था, दोनों पक्षकार जिला न्यायालय, जालंधर की अधिकारिता के भीतर रहते हैं जबकि यह स्पष्ट नहीं है कि क्या वह कहां अन्तिम बार एक साथ रहे। इसलिए यह स्पष्ट है कि अधिनियम की धारा 25 के अधीन याचिका के लिए भी जालंधर न्यायालय को मामले में अधिकारिता होगी। धारा 25 की वाक्य रचना की ओर ध्यान देने पर पता चलता है कि "बल इस प्रयोजन से उसे किए गए आवेदन पर" शब्दों पर दिया गया है। इन शब्दों से यह अनुमान लगाना चाहा गया है कि "उसे" न्यायालय ही है जिससे डिक्री पारित की और केवल वह ही न्यायालय ऐसे आवेदन को ग्रहण करने का हकदार है। यदि इन शब्दों का यह निर्वचन किया जाना है तो इसके विषम परिणाम होंगे जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होगा। कल्पना करें, कि विवाह-विच्छेद के लिए याचिका प्रथम न्यायालय द्वारा खारिज कर दी जाती है और खारिजी की उच्चतम न्यायालय द्वारा पुष्टि कर दी जाती है तथा मामला उच्चतम न्यायालय में जाता है और उच्चतम न्यायालय विवाह-विच्छेद की डिक्री मंजूर कर देता है। अधिनियम की धारा 25 और "उसे" शब्द के चाहे गए निर्वचन से अभिप्रेत होगा कि अधिनियम की धारा 25 के अधीन स्थायी निर्वाहिका मंजूर करने के लिए कोई याचिका उच्चतम न्यायालय के समक्ष करनी होगी। इसी प्रकार यदि विवाह-विच्छेद के लिए याचिका प्रथम न्यायालय द्वारा नामंजूर की गई थी किन्तु इस न्यायालय द्वारा मंजूर की गई थी तो स्थायी निर्वाहिका मंजूर करने के लिए आवेदन इस न्यायालय में ही होगा। न तो यह विस्तार धारा 25 का है और न ही वह अधिनियम की धारा 19 से प्रतिपादित होता है। इसके अतिरिक्त धारा 25 का आरम्भिक भाग दर्शित करता है कि कार्यवाहियां इस अधिनियम के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने वाले "किसी" भी न्यायालय के समक्ष की जा सकती है और इस अधिनियम के अधीन अधिकारिता का प्रयोग अधिनियम के अधीन पैदा होने वाले मामलों में अधिनियम की धारा 19 को दृष्टि में रखते हुए किया जाता है। इसलिए किया जाने वाला युक्तियुक्त निर्वचन यह होगा कि धारा 25 या उस मामले के लिए किसी अन्य धारा का पठन धारा 19 के अधीन रहते हुए करना चाहिए जहां तक कि न्यायालय की अधिकारिता का संबंध है जब तक कि किसी विशिष्ट धारा में उसके प्रतिकूल कोई विनिर्दिष्ट उपबन्ध नहीं है। इसलिए धारा 19 के साधारण पठन और इसका अधिनियम की धारा 25 के साथ अनुरूप पठन करने पर केवल निष्कर्ष जो निकाला जाता है यह होगा कि यदि विवाह-विच्छेद या किसी अन्य डिक्री के लिए कोई याचिका अधिनियम की धारा 19 के अधीन अधिकारिता रखने वाले न्यायालयों में से एक द्वारा मंजूर भी

कर ली जाती है तो इससे विरोधी पक्षकार को स्थायी निर्वाहिका या अधिनियम की धारा 26 या 27 के अधीन कोई अन्य अनुतोष दिए जाने के लिए सप्रावेदन करने का हेतुक मिलेगा, अधिकारिता फिर भी अधिनियम की धारा 19 द्वारा शासित होगी न कि किसी विशिष्ट न्यायालय द्वारा कोई डिक्री पारित करने मात्र से।"

4.12.2. **मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा प्रतिकूल विचार व्यक्त किया गया है**—जिसका यह विचार है कि धारा 19 हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 25 के अधीन किए गए आवेदन को लागू नहीं होगी और डिक्री पारित करने वाले न्यायालय के सिवाय किसी अन्य न्यायालय को स्थायी निर्वाहिका मंजूर करने की अधिकारिता नहीं होगी। वह उच्च न्यायालय कहता है:—

> "हिन्दू विवाह अधिनियम की स्कीम के अधीन मुख्य वैवाहिक अनुतोष अधिनियम की धारा 9 से 13ख द्वारा शासित है अर्थात् दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन, किसी शून्य या शून्यकरणीय विवाह की घोषणा के लिए, कई आकस्मिकताओं में से एक पर विवाह-विच्छेद के लिए या पारस्परिक सहमति से विवाह-विच्छेद के लिए। हिंदू विवाह-अधिनियम के अधीन यह सभी मुख्य अनुतोष अधिनियम की धारा 19 के अधीन यथापरिभाषित आरंभिक अधिकारिता वाले न्यायालय के समक्ष याचिका पेश करके प्राप्त किए जाने हैं। दूसरी ओर वे आवेदन जिनकी हमने ऊपर चर्चा की है धारा 24, 25 और 26 के अधीन मुख्य मूल कार्यवाही के लंबन के दौरान पेश किए जाने हैं। धारा 24 के अधीन अन्तरिम भरणपोषण के लिए आवेदन विवाह विषयक मुख्य अनुतोष के लिए याचिका के लंबन के दौरान पेश किया जाना है। इसी प्रकार बालक की अभिरक्षा के लिए या भरणपोषण के लिए या शिक्षा के लिए आवेदन भी तब पेश किया जाना है जब विवाह विषयक अनुतोष के लिए मुख्य आवेदन लंबित है। धारा 24 और 24 के आरम्भिक वाक्यों के शब्द स्पष्ट रूप से दर्शित करते हैं कि आवेदन इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में पेश किए जाने हैं। किन्तु धारा 25 के शब्द थोड़े से भिन्न हैं। धारा 25 का पठन, जहां तक इसका संबंध इस पुनरीक्षण के प्रयोजनों के लिए सुसंगत है निम्नलिखित है:—
>
> "25.(1) इस अधिनियम के अधीन **अधिकारिता का प्रयोग कर रहा कोई भी न्यायालय,** डिक्री पारित करने के समय या उसके पश्चात् किसी भी समय यथास्थिति पति या पत्नी द्वारा इस प्रयोजन के लिए **उसे किए गए आवेदन पर,** यह आदेश दे सकेगा कि प्रत्यर्थी उसके भरण पोषण और संभाल के लिए ऐसी कुल राशि..... संदत्त करे....."।

इस प्रकार धारा 25 के अधीन आवेदन अधिनियम के अधीन मुख्य अनुतोष की बाबत पक्षकारों के बीच इस अधिनियम के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने वाले न्यायालय को पेश की जानी होती है वाक्यरचना से यह भी दर्शित होता है कि यह वह न्यायालय ही है जो या तो सारवान् अनुतोष के लिए डिक्री पारित करने के समय या उसके पश्चात् किसी समय आदेश पारित कर सकता है। यह भी स्पष्ट है कि जब इस धारा में यह कहा गया है कि ऐसा आवेदन उसे ही किया जाना है अर्थात् कोई डिक्री पारित करने के समय या उसके पश्चात् किसी भी समय इस अधिनियम के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने वाले न्यायालय के प्रति निर्देश किया गया है।

मामले पर दूसरे कोण से विचार करने पर भी यह देखा जाएगा कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 24, 25 और 26 के अधीन कार्यवाहियां विवाह याचिका से पैदा होने वाले मुख्य या सारवान् अनुतोषों के परिणामिक अनुतोष हैं। जहां तक धारा 24 और 26 का संबंध है इस बात में कोई विवाद नहीं हो सकता कि वे मुख्य अनुतोष के लिए मुख्य कार्यवाहियों के लंबन के दौरान फाइल की जानी है। जहां तक धारा 25 का संबंध है स्थायी निर्वाहिका पक्षकारों के बीच विवाह विषयक अधिकारों के समापन के मुख्य अनुतोष का परिणामिक अनुतोष है। वाक्यांश से स्पष्ट रूप से दर्शित होता है कि डिक्री पारित करने के समय या उसके पश्चात् न्यायालय उसके समक्ष पेश किए गए आवेदन पर स्थायी निर्वाहिका और भरणपोषण मंजूर करने वाला आदेश पारित कर सकता है। निर्माताओं का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि मुख्य अनुतोष से संबंधित मामले का संज्ञान रखने वाले न्यायालय को स्थायी निर्वाहिका के परिणामिक अनुतोष की बाबत कार्यवाही करने की शक्ति दी जाती है।"



पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय[31] के प्रतिकूल विचार का विरोध निम्नलिखित रीति से किया गया है:—

> "पंजाब और हरियाणा के उच्च न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश ने श्रीमती दर्शन कौर बनाम मलूक सिंह अखिल भारतीय रिपोर्टर 1983 पंजाब और हरियाणा 28 के मामले में प्रतिकूल विचार प्रकट किया है। विद्वान न्यायाधीश के अनुसार हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 19 सभी कार्यवाहियों को, जिनके अन्तर्गत अधिनियम की धारा 25 के अधीन आवेदन भी है, सभी कार्यवाहियों को लागू है। वह इस तर्क से असहमत हुआ कि धारा 25 की वाक्यरचना और विशेष रूप से "इस प्रयोजन से उसे किए गए आवेदन पर" शब्द उस न्यायालय के प्रति निर्दिष्ट है जिसने डिक्री पारित की। उसके अनुसार इस निर्वचन से विषम परिणाम निकलेंगे। मैं उक्त विचार से सादर असहमत हूं क्योंकि हिंदू विवाह अधिनियम में "याचिका" शब्द प्रथमतः केवल उनके प्रति निर्दिष्ट है जो परस्पर वैवाहिक संबंधों की बाबत सारवान् अनुतोषों के लिए न्यायालय को पेश की जाती है जबकि "आवेदन शब्द" का प्रयोग केवल अन्तरिम भरणपोषण स्थायी भरणपोषण के पारिणामिक अनुतोषों या बालकों की अभिरक्षा और भरणपोषण के लिए किया गया है। अधिनियम की धारा 19 में भी "याचिका" के प्रति निर्देश किया गया है और मेरी राय में अधिनियम की धारा 9 से 13ख तक के अन्तर्गत आने वाले मुख्य अनुतोषों के लिए याचिका में स्पष्ट रूप से किया गया है। इसके अतिरिक्त धारा 24 और 26 मंजूर किए जाने वाले अनुतोषों को प्रवृत्ति से ही मुख्य अनुतोष के लिए लंबित कार्यवाहियों के प्रतिनिर्दिष्ट है और इसलिए वहां की फाइल और पेश की जानी है जहां मुख्य अनुतोष के लिए याचिका लंबित है। इसी प्रकार धारा 25, जो मेरी राय में मुख्य अनुतोष की किसी डिक्री पारित करने के समय या उसके पश्चात् किसी समय मंजूर किए जाने वाला पारिणामिक अनुतोष है, उसके अधीन आवेदन किसी डिक्री के पारित करने के समय या उसके पश्चात् अधिकारिता का प्रयोग करने वाले न्यायालय के समक्ष फाइल किया जाएगा।
>
> * * * * *
>
> धारा 25 के आरम्भिक वाक्य के साधारण पठन से दर्शित होता है कि यह धारा स्थायी निर्वाहिका और भरणपोषण के अनुतोष के लिए उसी न्यायालय को उस मंच के रूप में स्वयं किसी नियत करती है जो मुख्य अनुतोष के लिए डिक्री पारित करने के समय या उसके पश्चात् समय उसको इस प्रयोजन के लिए किए गए आवेदन पर पति और पत्नी के बीच अधिकारिता का प्रयोग कर रहा है।"

4.12.3. **दो परस्पर विरोधी विचारों में से किसे अंगिकार किया जाना चाहिए? विधि आयोग की यह राय है कि जब कि दोनों विचार स्वीकार्य है पंजाब विचार कि अधिनियम की धारा 25 के अधीन भरण पोषण या स्थायी निर्वाहिका का दावा करने वाला कोई आवेदन धारा 19 के अर्थ के अन्तर्गत "किसी" भी न्यायालय को किया जा सकता है जिसे मुख्य याचिका की जा सकती थी, अधिमानयोग्य है।** इसको इस बात से बल मिलता है कि विधानमंडल ने "उस न्यायालय" पद का प्रयोग करने के स्थान पर "कोई न्यायालय" पद का प्रयोग किया गया है। **किसी भी दशा में, पंजाब विचार न्याय के लिए इस भाव से अधिक सहायक है कि इसके परिणामस्वरूप भरणपोषण या स्थायी निर्वाहिका का दावा करने के हकदार किसी पति या पत्नी के कष्ट में कमी होती है। प्रतिकूल विचार से अधिक दुःख और कष्ट होना संभाव्य है।** इस प्रतिपादना का समर्थन करने के लिए एक दृष्टांत उपयोगी होगा मान लें कि कोई पति मुम्बई में एकपक्षीय विवाह-विच्छेदक डिक्री अभिप्राप्त करता है। पत्नी को, जो मद्रास में रह रही है जहां विवाह अनुष्ठापित हुआ था, निर्वाहिका पाने के लिए मुंबई जाना होगा जिसमें समय-खर्च, यात्रा-खर्च, और धन-खर्च होगा जो सम्भवतः वह नहीं कर सकती। ऐसा करना उसके लिए व्यवहार्य रूप से असंभव होगा। ऐसी स्थिति नहीं होती यदि वह मद्रास न्यायालय में सप्रावेदन कर सकती जहां विवाह अनुष्ठापित हुआ था। **तद्नुसार यह विचार, कि अधिनियम की धारा 25 के अधीन भरणपोषण आदि के लिए आवेदन, "किसी" भी न्यायालय में किया जा सकता है, जिसमें धारा 19 को ध्यान में रखते हुए मुख्य याचिका संस्थित की जा सकती थी, अंगिकार किया जाना चाहिए।**

4.12.4. **सिफारिश**—इस प्रश्न पर परस्पर विरोध का समाधान करने के लिए आयोग की राय में हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 14 का, संशोधन उसकी आरम्भिक पंक्ति में हर याचिका

शब्दों के पश्चात् "जिसके अंतर्गत धारा 25 के अधीन कोई आवेदन है" शब्द अंत:स्थापित करके, करना उपयुक्त होगा ।

4.13.1. **क्या एकपक्षीय डिक्री पारित करने वाला न्यायालय उसे सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 11 के अधीन स्वयं अपास्त कर सकता है या क्या वादी को अपील करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा ?** इस प्रश्न पर कि क्या हिंदू विवाह अधिनियम के अधीन पारित कोई एकपक्षीय डिक्री प्रत्यर्थी द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता, 1973 के आदेश 9, नियम 13 के उपबन्धों के अधीन किए गए आवेदन पर अपास्त की जा सकती है । दिल्ली[32], कर्नाटक[33], और मद्रास[34] उच्च न्यायालयों का विचार है कि डिक्री पारित करने वाले न्यायालय को उसे अपास्त करने की शक्ति है परन्तु गौहाटी उच्च न्यायालय ने अन्यथा अभिनिर्धारित किया है **(मद्रास उच्च न्यायालय ने अपने सबसे पश्चात् के निर्णय में दिल्ली और कर्नाटक उच्च न्यायालयों के इन विचारों से सहमत होते हुए, कि कोई एकपक्षीय डिक्री उसी ही न्यायालय द्वारा अपास्त की जा सकती है, अभिनिर्धारित किया है :**

"अधिनियम की धारा 21 के अधीन यह उपबन्ध किया गया है कि इस अधिनियम के अन्य उपबन्धों और उसके अधीन बनाए गए नियमों के उपबन्धों के अधीन यह है कि इस अधिनियम के अधीन सब कार्यवाहियां, जहां तक हो सकेगा, सिविल प्रक्रिया संहिता द्वारा विनियमित होंगी । अधिनियम की धारा 28(1) में यह कथित है कि इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में दी गई सभी डिक्रियां उस प्रकार अपीलनीय होंगी जैसे उस न्यायालय द्वारा अपनी आरम्भिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में दी गई डिक्री अपीलनीय होती हैं और ऐसी हर अपील उस न्यायालय में होगी जिसमें उस न्यायालय द्वारा अपनी आरम्भिक अधिकारिता के प्रयोग में किए गए विनिश्चयों की अपीलें सामान्यत: होती हैं । अधिनियम की धारा 28(1) के अधीन इस प्रकार किए उपबन्ध से प्रोत्साहित होकर याची के विद्वान परामर्शी को यह प्रतिविरोध करने का साहस हुआ कि प्रत्यर्थी के लिए केवल उपचार, अपील करना है और एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए आवेदन करना नहीं है । अधिनियम में या उसके अधीन बनाए गए नियमों में अधिनियम के उपबन्धों के अधीन पारित किसी एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के बारे में कोई उपबन्ध नहीं है । इस बात का विवाद भी नहीं है कि इस न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों में इसके लिए उपबन्ध नहीं है । इसलिए अधिनियम और उसके अधीन अधिनियम की धारा 21 के अधीन बनाए गए नियमों में भी उपबन्धों के अभाव में, इस अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां सिविल प्रक्रिया संहिता द्वारा विनियमित होंगी । **अधिनियम की धारा 21 में यह संकेत नहीं है कि सिविल प्रक्रिया संहिता का प्रक्रिया सम्बन्धी भाग ही लागू होगा** और उसका मूल भाग नहीं । प्रथम दृष्टया यह प्रतीत होगा कि सिविल प्रक्रिया संहिता के मूल उपबन्धों के लागू होने पर किसी निर्बन्धन के अभाव में अधिनियम के अधीन पारित एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए आवेदन सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन होगा ।"

[बल जोड़ा गया है]

4.13.2. **गौहाटी[35] उच्च न्यायालय का इस प्रभाव का विचार, कि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन पारित एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन पोषणीय नहीं है, इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है :**

"यह स्पष्ट किया जाता है कि हिन्दू विवाह अधिनियम में अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए उक्त अधिनियम के अधीन सब कार्यवाहियां, जहां तक हो सकेगा सिविल प्रक्रिया संहिता द्वारा विनियमित होंगी । इसलिए हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 28 (1) के आज्ञापक उपबन्ध एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 द्वारा विनियमित नहीं हो सकते । हिंदू विवाह अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा की गई सभी डिक्रियों के अन्तर्गत एकपक्षीय डिक्री भी है । **इसलिए जैसा हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 28(1) के आज्ञापक उपबन्धों के अधीन अधिकथित है एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध केवल अपील ही होगी ।** ऐसी एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन आवेदन पोषणीय नहीं है । विद्वान अपर जिला न्यायाधीश ने विधि में गलती की है । 7.2.83 का आदेश अपास्त करने योग्य है ।"



4.13.3. **परस्पर विरोध का कैसे समाधान किया जाए ?** दिल्ली, कर्नाटक और मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित एकमत विचार स्वस्थ कारणों द्वारा समर्थित है । गौहाटी उच्च न्यायालय ने अन्य सभी उच्च न्यायालयों के तर्क की परीक्षा किए बिना बहुत ही संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाया है । कोई कारण नहीं है कि असम में वादी उसी न्यायालय में "एकपक्षीय डिक्री" को अपास्त करना प्राप्त करने के स्थान पर और समय-खर्च और श्रम-खर्च करके अपील न्यायालय में जाने के लिए बाध्य होकर कष्ट और अन्याय सहन करें । इसलिए उन क्षेत्रों में जिनको यह अधिनियम लागू है, विधि की एकरूपता लाने के लिए एक कानूनी व्याख्या करना अपेक्षित है । **इसलिए यह शिफारिश की जाती है कि एक नई धारा अर्थात् धारा 28क निम्नलिखित के अनुसार हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में अन्त:स्थापित की जानी चाहिए :—**

"28क.(1) किसी मामले में जिसमें प्रत्यर्थी के विरुद्ध एकपक्षीय डिक्री पारित की जाती है वह उस न्यायालय को, जिसके द्वारा डिक्री पारित की गई थी और इसे अपास्त करने के लिए आदेश के लिए आवेदन कर सकता है और यदि वह न्यायालय का समाधान कर देता है किस समन की सम्यक् रूप से तामील नहीं की गई थी और कि जब मामले की सुनवाई के लिए पुकार हुई थी वह उपस्थित होने से पर्याप्त कारण से निवारित हो गया था, जो न्यायालय उसके विरुद्ध डिक्री को, खर्चे के बारे में ऐसे निबन्धनों पर, न्यायालयों में संदाय पर या अन्यथा जैसे वह ठीक समझे, अपास्त करने वाला आदेश करेगा और मामले में अग्रसर होने के लिए दिन नियत करेगा ।

(2) कोई भी डिक्री ऐसे आवेदन पर जैसा वह ऊपर कहा गया है तब तक अपास्त नहीं की जाएगी जब तक कि विरोधी पक्षकार पर उसकी सूचना की तामील नहीं कर दी गई है ।"

4.14.1. **क्या विवाह-विच्छेद की डिक्री के विरुद्ध अपील का, डिक्री अभिप्राप्त करने वाले पति या पत्नी की मृत्यु पर उपशमन हो जाता है ?** इस प्रश्न पर कि क्या विवाह-विच्छेद की डिक्री के विरुद्ध अपील या विवाह विच्छेद की एक पक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता 1973 के आदेश 9, नियम 13 के अधीन किए गए आवेदन का उस पति या पत्नी की मृत्यु से, जिसके पक्ष में विवाह विच्छेद की डिक्री पारित की गई है, उपशमन हो जाएगा, विनिश्चयों में परस्पर विरोध है । **मुम्बई[36], उच्च न्यायालय का यह विचार है कि विवाह-विच्छेद की डिक्री के विरुद्ध अपील के लम्बित रहते हुए प्रत्यर्थी की मृत्यु पर, उपशमन नहीं होगा । कर्नाटक[37] उच्च न्यायालय इस विचार से सहमत हुआ है । अपने निष्कर्षों पर पहुंचने के लिए मुम्बई[33] उच्च न्यायालय** निम्नलिखित कारणों से प्रभावित हुआ :—

"यह माना जा सकता है कि स्थिति संदेह युक्त नहीं है किन्तु जहां ऐसा है वहां साम्यापूर्ण बातें अभिभावी होनी चाहिए और निष्कर्ष की प्रकृति को वैयक्तिक प्रास्थिति और सम्पत्ति अधिकारों दोनों पर न्यायालय के निष्कर्षों के दूरगामी प्रभाव को ध्यान में रखते हुए यह वांछनीय है कि विचारण न्यायालय की डिक्री से व्यथित पक्षकार को निष्कर्षों को उलटवाने का अवसर होना चाहिए और प्रत्यर्थी की मृत्यु को दृष्टि में लाए बिना इस अवसर का आश्वासन दिया जाना चाहिए ।"

4.14.2. **एक प्रतिकूल विचार, कि ऐसी अपील का उपशमन होना चाहिए, मद्रास[39], उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित तर्क पर अभिव्यक्त किया है :—**

"विवाह विच्छेद की एक पक्षीय डिक्री के पारित होने पर प्रत्यर्थी और मृतक् रामनाथन के बीच विवाह विघटित हो गया था इस आधार पर भी कि विवाह का कोई पूर्व विघटन नहीं हुआ था, वैवाहिक गांठ सदैव के लिए अप्रतिसंहरणीय रूप से 3-6-1984 को खोल दी गई थी । यह बात संदेहास्पद है कि क्या उन मामलों में भी जहां विवाह का विघटन मृत्यु द्वारा हो गया है वहां न्यायालय के पास यह घोषणा करने की शक्ति है कि यह कुछ अन्य कारणों से बना रहा । यह स्मरण करना आवश्यक है कि मृत्यु के पश्चात् किसी पुरुष से विवाह-विच्छेद नहीं किया जा सकता या विवाह-विच्छेद की डिक्री प्राप्त नहीं कर सकता, उसे विवाहित और मृत्यु से दंडादिष्ट होने से अधिक नहीं समझा जा सकता । पति की मृत्यु पर, इस मामले में, वैवाहिक गांठ विद्यमान

नहीं रह गई और उसके पश्चात् विवाह-विघटन करने वाली विवाह-विच्छेद की डिक्री नहीं हो सकती। प्रास्थिति का तथाकथित प्रश्न, जिसके आधार पर निचला अपील न्यायालय याची को विधिक प्रतिनिधि के रूप में पक्षकार बनाने के लिए सहमत हो गया था, किसी बात को सिद्ध नहीं करता। इस मामले में, एकपक्षीय विवाह-विच्छेद की डिक्री अभिप्राप्त कर लेने पर, प्रत्यर्थी विवाह-विच्छेद हुआ व्यक्ति हो गई और वह प्रास्थिति रामनाथन की तत्पश्चात् मृत्यु से उसके साथ अपरिवर्तनीय रूप में संयुक्त हो गई। यह समझना कठिन है कि कैसे और किस प्रक्रिया से प्रत्यर्थी जो विवाह-विच्छेद हुआ व्यक्ति थी, 24-10-1983 को जब विवाह-विच्छेद की एक-पक्षीय डिक्री पारित की गई और 3-6-1984 को जब रामनाथन की मृत्यु हुई, एक विधवा की प्रास्थिति का दावा कर सकती थी। इससे यह धारणा हो सकती है कि विवाह को विघटित करने वाली विवाह-विच्छेद की डिक्री के होते हुए भी विवाह रामनाथन की मृत्यु की तारीख तक विद्यमान रहा था जिसके लिए विधि में कोई भी आधार नहीं है। इसके अतिरिक्त वैवाहिक गांठ विवाह-विच्छेद की डिक्री से खुल गई थी, यह धारण करने के लिए कोई भी आधार नहीं है कि रामनाथन की मृत्यु पर इसमें प्रत्यर्थी को विधवा की प्रास्थिति प्रदत्त करने के लिए विवाह उसके पश्चात् भी विद्यमान रहा था। इस मामले के तथ्यों से यह देखा गया है कि प्रत्यर्थी डिक्री पारित करने की तारीख से और अपने पति की मृत्यु की तारीख को भी केवल विवाह-विच्छेद हुआ व्यक्ति थी और वह रामनाथन की विधवा के रूप में कोई दावा नहीं कर सकती जब तक कि वह उसे ऐसा करने के लिए समर्थ बनाने वाले कुछ कानूनी उपबन्धों का आश्रय नहीं लेती। इसलिए निचले न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में गलती की कि प्रत्यर्थी की प्रास्थिति के प्रश्न से इस मामले में विद्यमान तथ्य विषयक स्थिति में कुछ अन्तर पड़ेगा।"

4.14.3. **मुम्बई और कर्नाटक उच्च न्यायालयों द्वारा स्वीकृत विचार विधि आयोग की राय में क्यों सही है और परस्पर विरोध से पैदा होने वाली स्थिति का कैसे उद्धारण किया जाए ?**

विवाह-विच्छेद के लिए डिक्री में किसी पति या पत्नी की प्रास्थिति की घोषणा और उसका न्याय-निर्णयन अन्तर्वलित होता है। किन्तु इसकी सुसंगती तब समाप्त नहीं हो जाती तब पति की मत्यु हो जाती है। यदि डिक्री विधि में अमान्य है तो पत्नी की प्रास्थिति विद्यमान रहेगी। उस दशा में वह अपने मृत पति की सम्पदा का, उसकी विधवा की हैसियत में, उत्तराधिकारी होने की हकदार होगी। **यदि पति की मृत्यु पर अपील का उपशमन होने दिया जाता है तो पत्नी के विरुद्ध पारित विवाह-विच्छेद की अमान्य डिक्री भी पूर्णतः प्रवृत्त रहेगी और उसे अपने मृत पति की सम्पदा के, उसकी विधवा की हैसियत में उत्तराधिकारी होने के उसके अधिकार से वंचित किया जाएगा।** यह विचार कि कार्यवाही का उपशमन नहीं होता है, स्वीकार्य है और अन्यथा अभिनिर्धारित करने के लिए विधि या तर्कशास्त्र में कोई बाध्यता नहीं है। **इसलिए मुम्बई-कर्नाटक विचार को अंगीकार करना कि अपील का उपशमन नहीं होता है, तर्कसंगत है और उससे न्याय के उद्देश्यों की अभिवृद्धि होती है।**

4.14.4. **सिफारिश**—इस महत्वपूर्ण विषय पर परस्पर विरोध का समाधान करने के लिए हिन्दू विवाह अधिनियम में संशोधन के रूप में विनिर्दिष्ट रूप से यह उपबन्ध करना वांछनीय है कि विवाह-विच्छेद या विवाह की अकृतता के विरुद्ध किसी अपील का और विवाह-विच्छेद के लिए या विवाह की अकृतता के लिए एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए किए गए किसी आवेदन का प्रत्यर्थी के पति या पत्नी को मृत्यु पर, उपशमन नहीं होगा। यह संशोधन हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28 में उपधारा (5) के रूप में एक नई उपधारा का अन्तःस्थापन करके किया जा सकता है।

4.15.1. **क्या विवाह विषयक कोई न्यायालय विवाह के अवसर पर या उसके आसपास पति या पत्नी में से एक को उपहार में दी गई वैयक्तिक सम्पत्ति की बाबत जो दम्पति गृह में रखी हुई है, कोई आदेश पारित कर सकता है ?** इस विषय पर विनिश्चयों में परस्पर विरोध हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की नीचे उल्लिखित धारा 27 के प्रमिक विस्तार पर केन्द्रित है :—

"27. **संपत्ति का व्ययन**—इस अधिनियम के अधीन होने वाली किसी भी कार्यवाही में, न्यायालय ऐसी सम्पत्ति के बारे में, जो विवाह के अवसर पर या उसके आसपास उपहार में दी गई हो और संयुक्त पति और पत्नी दोनों की हो, डिक्री में ऐसे उपबन्ध कर सकेगा जिन्हें वह न्यायसगत और उचित समझे।"



इस उपबन्ध के अधीन एक प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि क्या विवाह विषयक न्यायालय अधिनियम के अधीन मुख्य कार्यवाही का निपटारा करते समय विवाह के अवसर पर या उसके आसपास उपहार के रूप में पति या पत्नी द्वारा वैयक्तिक रूप में प्राप्त सम्पत्ति के व्ययन के बारे में आदेश पारित कर सकता है। **इलाहाबाद[40] उच्च न्यायालय के अनुसार धारा 27 उस सम्पत्ति के बारे में, जो या तो अकेले पति या अकेली पत्नी की हो, समुचित डिक्री पारित करने की न्यायालय की अधिकारिता या शक्ति का अपवर्जन नहीं करती है।** बातों की प्रकृति से यह शक्ति उन विधिक कार्यवाहियों में अन्तर्निहित है, जो हिन्दू विवाह अधिनियम के अधीन उपयुक्त रूप से उत्पन्न होती है। यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अधिनियम की धारा 21 विवाह विषयक न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 का, जो ऐसे आदेश करने के लिए, जो न्याय के उद्देश्यों के लिए या न्यायालय की आदेशिका के दुरुपयोग के निवारण के लिए आवश्यक हो, आश्रय लेते हुए सिविल न्यायालय की सब शक्तियां प्रदत्त करती है, इसलिए न्यायालय साधारण या अन्य अनुतोष मंजूर कर सकता है जो वह किसी विशेष मामलों में सिद्ध की गई परिस्थितियों के अधीन न्यायसंगत और उचित समझे। **निस्संदेह उसी उच्च न्यायालय के एक अन्य विद्वान एकल न्यायाधीश ने पूर्वतर[41] विचार से प्रत्यक्ष रूप से अनभिज्ञ होते हुए बाद में प्रतिकूल विचार प्रकट किया है।** क्योंकि पूर्वतर विचार को स्वयं इलाहाबाद न्यायालय की बृहत्तर न्याय पीठ द्वारा ही उलटा जा सकता था अन्यथा नहीं, इस विषय पर परस्पर विरोध है।

4.15.2. **जम्मू[42]-कश्मीर[43], दिल्ली[44], उड़ीसा[45] तथा पंजाब[46], [47], [48], [49] और हरियाणा उच्च न्यायालय इलाहाबाद उच्च न्यायालय के विनिश्चय से विसम्मत हैं और उन्होंने यह विचार प्रकट किया है कि धारा 27, आवश्यक अर्थान्वयन द्वारा संपत्ति को अपना लागू होना अपवर्जित करती है, जिसका, न्यायालय से निदेश चाहने वाला पक्षकार दावा करता है कि वह अनन्य रूप से उसका है।** इसने आगे अभिनिर्धारित किया है कि न्यायालय, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के अधीन अपनी अन्तर्विहित शक्तियों के प्रयोग में डिक्री में किसी पति या पत्नी की व्यक्तिगत सम्पत्ति की बाबत उपबन्ध नहीं कर सकता।

4.15.3. **विवाद का कैसे समाधान किया जाए**—वास्तविक विवाद इस विचार-विमर्श पर केन्द्रित है कि क्या सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के अधीन अंतर्निहित शक्तियों का अवलम्बन, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि अधिनियम की धारा 27 शब्दों में इस प्रकार वर्णित नहीं है जिससे इस प्रकृति के आनुषंगिक विवाद उसके विस्तार उसके अन्तर्गत आ जाएं। पक्षकारों के बीच पूर्ण-न्याय करने के लिए हिन्दू विवाह अधिनियम के अधीन किसी याचिका में लिया जा सकता है। **इलाहाबाद का यह विचार कि इस प्रकृति के संबंधित मामलों पर आनुषंगिक आदेश पारित करने के लिए अन्तर्निहित शक्तियों का अवलम्बन लिया जा सकता है, उनके वैवाहिक सम्बन्ध से पैदा होने वाले विधिक विवाद को सदैव के लिए समाप्त करने के लिए अंगिकार किया जाना चाहिए।** अन्यथा पत्नी की जो यह शिकायत करती है कि उसको दान में दी गई संपत्ति जो संपत्ति गृह में रखी हुई उसकी पृथक और अनन्य संपत्ति है, उससे पति द्वारा रोके रखी गई है, पृथक् वाद फाइल करना होगा। **ऐसा विचार अंगीकार करने का परिणाम कार्यवाहियों का बाहुल्य, अधिक समय, खर्चे और वकीलों तक भाग-दौड़ तथा एक बार फिर मुकदमेबाजी से न्यायालयों में परिवर्जनीय कार्यभार में वृद्धि करना होगा। इसलिए इलाहाबाद विचार को अंगीकार किया जाना चाहिए। धारा 27 का तदनुसार संशोधन करने की आवश्यकता है और "संयुक्त पति और पत्नी दोनों की हो" के स्थान पर "पति और पत्नी दोनों की संयुक्त या अनन्य हो" रखा जाए और विधि आयोग तदनुसार सिफारिश करता है।**

4.16.1. **क्या हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 23 वहां लागू है जहां निर्वसीयती का केवल एक पुरुष वारिस है ?** जहां कोई हिन्दू पुरुष या नारी एक पुरुष वारिस और एक या अधिक नारी वारिस पीछे छोड़कर, निर्वसीयत मर जाती है वहां स्थिति के सन्दर्भ में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 23 के प्रमित विस्तार और लागू होने के बारे में विभिन्न उच्च न्यायालयों के बीच न्यायिक राय में परस्पर विरोध है। प्रश्न यह है कि क्या ऐसी स्थिति में धारा 23 आकृष्ट होगी और क्या किसी नारी वारिस को निवास गृह के विभाजन के अधिकार से

तब तक वंचित किया जाएगा जब तक कि पुरुष वारिस उसमें अपने अंश का विभाजन कराने का दावा नहीं करता है। उक्त उपबन्ध इस प्रकार है —

"23. **निवास-गृह के बारे में विशेष उपबन्ध**—जहां कि निर्वसीयत हिन्दू ने अनुसूची के वर्ग 1 में विनिर्दिष्ट पुरुष और नारी दोनों वारिस अपने पीछे उत्तरजीवी छोड़े हों और उसकी सम्पत्ति के अन्तर्गत उसके अपने कुटुंब के सदस्यों के पूर्णतः अधिभोग में कोई निवास-गृह हो, वहां इस अधिनियम में किसी बात के अन्तर्विष्ट होते हुए भी, किसी ऐसी नारी वारिस का निवास-गृह के विभाजन कराने का दावे के अधिकार तब तक उद्भूत न होगा जब तक कि पुरुष वारिस उसमें अपने-अपने अंशों का विभाजन करना पसंद न करें, किन्तु नारी वारिस उसमें निवास करने के अधिकार की हकदार होगी :

परन्तु जहां कि ऐसी नारी वारिस पुत्री हो वहां उस निवास-गृह में निवास करने के अधिकार की हकदार तभी होगी जब कि वह अविवाहिता हो या अपने पति द्वारा अभित्यक्ता हो या उससे पृथक् हो गई हो या विधवा हो।"

4.16.2. **कलकत्ता[50], [51], गुजरात[52], केरल[53] और मद्रास[54] उच्च न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अधिनियम की धारा 23 ऐसी स्थिति में भी आकृष्ट होगी और कोई नारी वारिस निवास-गृह का तब तक दावा नहीं कर सकेगी जब तक कि पुरुष वारिस उसमें अपने अंश का दावा नहीं करता है।** मद्रास उच्च न्यायालय का, जो कलकत्ता उच्च न्यायालय से सहमत है, तर्क, उसके निर्णय से उद्धरित लेखांश से प्रकट होता है : —

"....हमारी यह राय है कि इस धारा को अधिनिमित करते समय संसद् को यह महसूस करना चाहिए था कि किसी हिन्दू अविभक्त कुटुंब का निवास स्थान प्राचीन हिन्दू सिद्धांतों द्वारा अविभाज्य आस्ति के रूप में समझा जाना चाहिए और इस लिए निवास स्थान को कुटुम्ब द्वारा तब तक परिरक्षित रखने की अनुज्ञा दी जानी चाहिए जब तक की अनुसूची की श्रेणी-1 में वर्णित पुरुष वारिस उसका विभाजन कराने का चयन नहीं करता है/करते हैं और संसद् उस विस्तार तक स्मरणातीत समय से प्राचीन हिन्दू कुटुंबों द्वारा इस प्रकार संजोई रखी गई परम्पराओं और भावनाओं को मान्यता देना चाहती थी। यदि पुरुष सदस्य कुटुंब गृह को आपस में विभाजित करना पसंद करते हैं या यदि कोई एकल सदस्य उसे क्रमिक अंशों में विभाजित करना या अपना अंश किसी पर व्यक्ति को अन्य संक्रांत करना पसंद करता है तो उसका यह अर्थ होगा कि ऐसी आकस्मिकता उद्भूत हो गई है जिसके कारण पुरुष सदस्य निवास-गृह का परिरक्षण करने के लिए समर्थ नहीं रह गए हैं। इसी कारण, संसद् ने उस धारा के अधीन विभाजन का दावा करने के लिए नारी सदस्यों को अनुज्ञात कर दिया है, यदि पुरुष सदस्य गृह में अपने-अपने अंशों का विभाजन करना पसंद करते हैं। इस समय हम यह बता सकते हैं कि संसद् ने निर्वसीयती द्वारा छोड़ी गई अन्य संपत्तियों के विभाजन कराने के नारी सदस्य के अधिकार को किसी भी प्रकार निर्बंधित नहीं किया है। हमारी राय में जब तक कि पुरुष सदस्य निवास-गृह में अपने-अपने अंशों का विभाजन कराना पसंद न करे, निवास-गृह विभाजन से एक प्रकार से अपवर्जित है किन्तु यह कि नारी सदस्यों को उसमें अंश पाने का अधिकार होगा और अविवाहिता नारी सदस्यों आदि को उसमें निवास करने का अधिकार होगा। ऐसा करते समय न्यायालय को इस तथ्य की भी गणना में लेना चाहिए कि नारी सदस्य अपने विवाह के पश्चात् अपने पतियों के साथ उनके गृहों में ही रहेंगे। यदि किन्हीं ऐसे नारी सदस्यों की प्रेरणा पर निवास गृह के, पुरुष सदस्य की इच्छा के विरुद्ध, विभाजन की अनुज्ञा दी जाती है तो उसे गंभीर कठिनाई का सामना करना पड़ेगा और यदि गृह अविभाज्य है तो उसे उसका अन्य संक्रमण करने के लिए विवश होना पड़ेगा। इसलिए यह न्यायसंगत ही था कि कुटुंब के निवास गृह को, पुरुष सदस्यों द्वारा तब तक रखने की अनुज्ञा देनी चाहिए जब तक वे उसे विभाजित करना पसंद न करें और नारी सदस्य निवास-गृह के टुकड़े करने और खंडन करने के लिए जिम्मेदार व्यक्ति नहीं होने चाहिए। वास्तव में जैसा कि स्वयं धारा के शीर्षक से स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है धारा 23 निवास-गृहों की बाबत एक विशेष उपबन्ध के रूप में सम्मिलित की गई है और इससे निवास-गृह के परिरक्षण पर बल दिया गया है। हमारी राय में इसी कारण से संसद् ने निवास-गृह के विभाजन के लिए चयन के मामले में पुरुष सदस्यों को नारी सदस्यों



पर वरीयता दी है। किन्तु साथ ही यह विचार करना भी महत्वपूर्ण है कि धारा 23 का परन्तुक किसी नारी वारिस के, जो विवाहित है या अपने पति द्वारा अभित्यक्ता है या उससे पृथक् हो गई है या विधवा है, निवास का अधिकार परिरक्षित करता है।"

**मद्रास उच्च न्यायालय ने महसूस किया की नारी वारिसों को गंभीर कठिनाई होगी किन्तु यह तर्क दिया कि यह पुरुष वारिस को परिणामिक अन्याय से कम बुराई होगी।**

"हमें इस तथ्य का भान है कि कठिनाई वाले कुछ मामले हैं जहां उदाहरण स्वरूप निर्वसीयती निवास-गृह के रूप में एक बहुत बड़ी हवेली छोड़ गया है और उसके आतारिक्त कोई अन्य सम्पत्ति नहीं छोड़ गया है तथा उसके एक पुरुष वारिस और एक या अधिक नारी वारिस उत्तरजीवी है। ऐसे मामलों में चाहे नारी वारिस अधिनियम के अधीन निर्वसीयती की संपत्ति में अंश पाने के हकदार है व्यवहार्य रूप से ऐसा अधिकार विफल और निरर्थक हो जाएगा क्योंकि यह संभावना नहीं है कि एकल पुरुष वारिस निर्वसीयती की सम्पत्ति में अंश विभाजित कराना पसंद करेगा और इस प्रकार नारी सह-वारिसों का अपने अंश विभाजित कराने का अधिकार सदैव के लिए सफलतापूर्वक बाधित रहना संभाव्य होगा। ऐसे मामलों में विभाजन की मांग करने का नारी वारिस में निहित अधिकार स्थायी रूप से मुल्तवी हो जाएगा और अन्ततोगत्वा निरर्थक हो जाएगा। ऐसी कठिन आकस्मिकताओं से नारी वारिसों को गंभीर कठिनाई होगी, किन्तु उससे बचा नहीं जा सकता। हमारी राय में यदि पद्मनाभन न्यायाधीश द्वारा अनुसरित उड़ीसा उच्च न्यायालय का विचार स्वीकार किया जाना है तो हमारी राय में एकल पुरुष वारिस के साथ घोर अन्याय होगा और वह उद्देश्य हो, जिसके लिए वह धारा अधिनियमित की गई है, अकृत हो जाएगा। हमारे विचार में वह कठिनाई जो नारी वारिसों को, विभाजन कराने का दावा करने के लिए समर्थ न होने से होगी निश्चित रूप से ही, उस अन्याय से जो एकल पुरुष वारिस के साथ हो सकता है, कम होगी। हमारे द्वारा धारित इस राय के बावजूद हम यह संप्रेक्षण करने से नहीं बच सकते कि यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि धारा 23 विभिन्न निर्वचनों की संभावना से बचने वाली भाषा कि विशेषता में बहुत सावधानीपूर्वक और स्वस्थ रूप से प्रारूपित नहीं है। हमारे विचार में धारा 23 का उपांतरण करने की आवश्यकता है जिससे कि विभिन्न विचारों और पारिणामिक विषमता लाने वाली निर्वचन की कठिनाइयों से बचा जा सकेगा।"

4.16.3. **मुम्बई[56], कर्नाटक[57], और उड़ीसा[58] उच्च न्यायालयों द्वारा प्रतिकूल विचार प्रकट किया गया है। मुम्बई उच्च न्यायालय कहता है :—**

"यह सत्य है कि धारा 23 का उद्देश्य पुरुष वारिसों का अपाय करके नारी वारिस या वारिसों की प्रेरणा पर कुटुम्ब के निवास गृह को खंडन और टुकड़े-टुकड़े होने से बचाना है। यह सत्य है कि इसका आशय विभाज्य आस्ति के रूप में कुटुम्ब के निवास-गृह को परिरक्षित रखना प्राचीन हिन्दू सिद्धान्तों में से एक को दोहराना है। यह एक विशेष उपाबन्ध है जो किसी कुटुम्ब के निवास गृह को, जब वह इस अधिनियम के उपाबन्धों के अनुसार न्यागत होता है, परिरक्षित और सुरक्षित बनाए रखने के लिए आशयित है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि श्रेणी-1 में विनिर्दिष्ट नारी वारिस निवास-गृह में भी अंश, पूर्ण रूप से विरासत में पाते हैं। किन्तु जहां तक नारी वारिसों का सम्बन्ध है अधिनियम की धारा 8 के अधीन संपत्ति के न्यागमन का क्रम निर्बंधित है और यह निर्बन्धन अधिनियम की धारा 23 के अधीन परिकल्पित किसी घटना के घटित होने तक प्रवर्तित होगा। उनका अधिकार तब तक स्थगित रहेगा जब तक कि पुरुष सदस्य कुटुम्ब गृह में अपने-अपने अंश विभाजित करना पसन्द न करें। जब निर्वसीयती के संयुक्त रूप से एक साथ रहने वाले और अविभक्त हिंदू कुटुम्ब गठित करने वाले एक से अधिक वारिस हैं, यह उचित नहीं है और विधान-मंडल का आशय है कि उन नारी वारिसों की प्रेरणा "पर" जो पर-व्यक्ति हैं उनके संयुक्त निवास स्थान को विछिन्न और उनकी संयुक्त प्रास्थिति का ह्रास नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु यह उद्देश्य तब नहीं बच पाता जब एक ओर किसी कुटुम्ब गृह में एक साथ निवास कर रहे पुरुष सदस्यों का और दूसरी ओर नारी वारिस का अविभक्त हिंदू कुटुम्ब नहीं है। एक उत्तरजीवी सहदायिक या अकेला पुरुष वारिस अन्य नारी वारिस या वारिसों के साथ जिनको सम्पत्ति (जिसके अन्तर्गत निवास-गृह है) अधिनियम की धारा 8 के उपाबन्धों के अनुसार न्यागत होती है और जो सभी एक साथ सम्पत्ति वाले हैं वे सभी सामान्यिक अभिधारी

हैं। ऐसी स्थिति में भी उनके अधिकारों को निर्बन्धित करना उस निर्बन्धन को किसी घटना के घटित होने तक (क्योंकि वह घटना कभी भी नहीं घट सकती) मात्र मुल्तवी करना ही नहीं है वरन् व्यवहार्य रूप से अधिकार को सदैव के लिए और उससे वंचित करना है।"

4.16.4 **मुम्बई, कर्नाटक-उड़ीसा का विचार, कि ऐसी किसी स्थिति में नारी वारिस विभाजन का दावा करने के हकदार होने चाहिए, क्यों अभिलाषी होना चाहिए ?** मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा उठाए गए इस महत्वपूर्ण प्रश्न का, कोई अच्छा उत्तर नहीं है कि यदि उस नारी सह-स्वामी का, जो सम्पत्ति पुरुष सह-स्वामियों के साथ विरासत में पाती है, अधिकार इस विस्तार तक कम कर दिया जाता है कि पुरुष वारिसों के मिलकर बना कोई अविभक्त कुटुम्ब अस्तित्व में नहीं है तो उसका वस्तुतः यह अर्थ होगा कि नारी वारिस से दूसरे हाथ से वह वापस ले लिया गया है जो एक हाथ से संसद् द्वारा उसे दिया गया है।

**मद्रास उच्च न्यायालय का विचार कि नारी सह-स्वामी को यह अन्याय सहन करना ही चाहिए जिससे कि पुरुष सह-स्वामी को हानि न उठानी पड़े पुरुषों और स्त्रियों के बीच समता के संवैधानिक दर्शनशास्त्र के अनुरूप और विपरीत है तथा उसके पुरुष-निमित्त और नारी विरुद्ध पक्षपात की गंध आती है। निश्चित रूप से नारी सह-स्वामी को अधिकार के सार से मात्र उसके लिंग के कारण तब भी वंचित नहीं किया जा सकता जब कि नियम के लिए कारण का, वास्तव में उस स्थिति में, अभाव हो गया है जहां केवल एक पुरुष सह-स्वामी है और अविभक्त कुटुंब को परिरक्षित रखने का तर्क नहीं हो सकता। इसलिए इस भ्रम को, इसमें इसके पश्चात् की गई सिफारिश के अनुसार उचित संशोधन करके, दूर करने की आवश्यकता है।**

4.16.5. **परस्पर विरोध का किस प्रकार समाधान किया जाए**—विद्यमान परस्पर विरोध और निर्वचन और अधिनियम की धारा 23 के लागू होने के विस्तार पर केन्द्रित विषमता का समाधान करने के लिए विधि आयोग सिफारिश करता है कि अधिनियम की धारा 23 के विद्यमान परन्तुक के अतिरिक्त एक और परन्तुक निम्नलिखित शब्दों में सम्मिलित करके धारा 23 का संशोधन किया जाए :

"परन्तु यह और कि इस धारा के उपबन्ध वहां लागू नहीं होंगे जहां केवल एक पुरुष वारिस है।"

## अध्याय 5

## निष्कर्ष और सिफारिशें

5.1. **निष्कर्ष**—आयोग की यह विचारपूर्ण राय है कि विभिन्न उच्च न्यायालयों के विचारों में परस्पर विरोध के कारण समरूप केन्द्रीय विधियों के समरूप उपबन्धों के यह अर्थ लगाने से, कि भारत के कुछ भागों में एक अर्थ होगा और भारत के दूसरे भागों में भिन्न अर्थ होगा, पैदा हुई विषमता और बेतुकेपन को, सम्पूर्ण भारत में केन्द्रीय विधियों के निर्वचन और लागू होने में एकरूपता प्राप्त करने के लिए सीधा करने की आवश्यकता है और इस क्षेत्र में विधि के समक्ष समता सुनिश्चित करने के लिए दो कदम उठाने की आवश्यकता है :—

(1) क्रमबद्ध रीति से समुचित संशोधनों द्वारा विधि को स्पष्ट करने के लिए परिकल्पित विधायी उपायों द्वारा **विद्यमान परस्पर विरोधों को दूर करना;** और

(2) **यह सुनिश्चित करने के लिए तंत्र बनाना कि ऐसा परस्पर विरोध अस्तित्व में न आए और** भविष्य में जिसका समाधान न हो जिससे कि भविष्य में विधायी संशोधनों की आवश्यकता न हो।

इस उद्देश्य से हम दो सिफारिशें करते हैं :—

### पहली सिफारिश

5.2. **विद्यमान परस्पर विरोधों को दूर करना**—इस सन्दर्भ में हम सिफारिश करते हैं कि हिंदू विवाह अधिनियम और हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम के क्षेत्रों में विद्यमान विषमताएं अध्याय 4 में दिए गए सुझावों के अनुसार विधायी उपायों द्वारा दूर की जाएं। उसके परिणामस्वरूप सर्वत्र भारत में सभी राज्यों में जिनमें संबद्ध केन्द्रीय अधिनियम लागू होता है संबद्ध क्षेत्र में और केवल कुछ राज्यों के स्थान पर ऐसे सभी राज्यों में विधि की एकरूपता सुनिश्चित की जाएगी :—

(1) दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए याचिका में विवाह विषयक न्यायालय को इस प्रभाव का अभिवाक् करने वाली, कि विवाह याचिका के संस्थित किए जाने पूर्व रूढ़ि के अनुसार पहले ही विघटित हो गया था, प्रतिरक्षा को ग्रहण करने की अधिकारिता होगी।

[अध्याय 4, पैरा 4.2 देखें]

(2) पति-पत्नी से जिन्होंने सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद के लिए संयुक्त याचिका पेश की है, एक न्यायालय द्वारा अन्तिम आदेश पारित करने के पूर्व अपनी सहमति प्रत्याहृत कर सकता/सकती है।

[अध्याय 4, पैरा 4.3 देखें]

(3) विवाह विषयक याचिका के संस्थित किए जाने के "पश्चात्" पति या पत्नी के आपत्तिजनक या क्रूर आचरण की उसी कार्यवाही में जांच की जा सकेगी।

[अध्याय 4, पैरा 4.4 से 4.10 देखें]

(4) कोई विवाह विषयक न्यायालय कोई डिक्री पारित करने के समय हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 25 (1) के अधीन भरण-पोषण मंजूर करने वाला आदेश, इस बात का ध्यान किए बिना कि अनुतोष के लिए याची की प्रार्थना मंजूर की जाती है या नहीं और इस बात का ध्यान किए बिना कि याचिका मंजूर की जाती या खारिज की जाती है, पारित किया जा सकता है।

[अध्याय 4, पैरा 4.11 देखें]

(5) डिक्री पारित करने वाले न्यायालय के बजाय हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 19 के सन्दर्भ में अधिकारिता रखने वाले न्यायालयों में से किसी न्यायालय द्वारा भरण-पोषण या स्थायी निर्वाहिका का दावा करने वाला आवेदन ग्रहण किया जा सकता है।

[अध्याय 4, पैरा 4.12 देखें]

(6) कोई वादी जिसके विरुद्ध हिंदू विवाह अधिनियम के अधीन एकपक्षीय डिक्री पारित की जाती है अपील में न्यायालय में जाने के लिए विवश होने के स्थान पर पर्याप्त हेतुक दर्शित करने पर डिक्री को अपास्त करने के लिए उसी न्यायालय से आवेदन कर सकता है ।

[अध्याय 4, पैरा 4.13 देखें]

(7) विवाह विच्छेद के लिए डिक्री के विरुद्ध अपील या विवाह-विच्छेद की एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए कार्यवाही का डिक्री अभिप्राप्त करने वाले पति या पत्नी की मृत्यु पर उपशमन हुआ नहीं समझा जाएगा ।

[अध्याय 4, पैरा 4.14 देखें]

(8) हिंदू विवाह अधिनियम के अधीन मुख्य कार्यवाही का निपटारा करते समय सम्बद्ध विवाह विषयक न्यायालय को पति या पत्नी में से एक की वैयक्तिक सम्पत्ति के बारे में भी, जो पति या पत्नी के पास है, ऐसे पति या पत्नी को मुकदमेबाजी का एक और दौर भोगने और अतिरिक्त समय-लागत, धन-लागत और प्रयास-लागत उपगत करने के लिए बाध्य करने के स्थान पर, समुचित आदेश पारित करने के लिए सशक्त किया जाएगा ।

[अध्याय 4, पैरा 4.15 देखें]

(9) अन्य पुरुष वारिसों के साथ विरासत में पाए गए निवास-गृह में अपने अंश का विभाजन कराने का दावा करने वाले नारी सह-स्वामी के विरुद्ध वर्जन ऐसी स्थिति में भी प्रवर्तित नहीं होगा जहां एक पुरुष सह-स्वामी है जिससे कि उसका अधिकार वस्तुतः अप्रयोक्तव्य और मूल्यहीन नहीं हो जाए ।

[अध्याय 4, पैरा 4.16 देखें]

## दूसरी सिफारिश

**5.3. उच्च न्यायालय स्तर पर परस्पर विरोधी निर्वचनों को आरम्भ में ही दबा देने के लिए तंत्र विकसित करने की आवश्यकता और प्रस्तावित समाधान ।**

5.3.1. वह प्रश्न जिसका समाधान करना अपेक्षित है उपयुक्त तंत्र विकसित करने के लिए आवश्यकता के बारे में है जिससे कि विधि के प्रश्नों पर एकरूपता बनाए रखी जाए, सुदृढ़ की जाए और पुनः स्थापित की जाए क्योंकि वर्तमान संवैधानिक और कानूनी उपबन्ध जो ऐसी एकरूपता बनाए रखने के लिए परिकल्पित हैं तभी प्रवर्तित होते हैं जब मामला व्यथित पक्षकार द्वारा अपील के रूप में सर्वोच्च न्यायपालिका में ले जाया जाता है या विनिश्चयों में परस्पर विरोध की ओर ध्यान देने के लिए विधान-मंडल को समय मिलता है। उच्चतम न्यायालय की सलाहकारी अधिकारिता जैसे कुछ विशेष उपबंधों को छोड़कर यह पता चलता है कि वह विषय जिस पर एकरूपता का अभाव है विनिश्चय के लिए तभी आ सकता है जब कोई वादी उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता का सहारा लेता है । दूसरे शब्दों में, यदि कोई वादी जो विधि के प्रश्न पर उच्च न्यायालय में असफल हो गया है, उच्चतम न्यायालय में जाने का व्यय नहीं उठा सकता या किसी कारण से उच्चतम न्यायालय में नहीं जाना चाहता तब उच्च न्यायालय का विनिर्णय प्रवृत्त रहता है । विधि के किसी विशेष प्रश्न पर विनिश्चयों में परस्पर विरोध वैसे ही बना रहेगा जैसा वह है । यह सन्तोषजनक स्थिति नहीं है ।

5.3.2. उच्च न्यायालयों के बीच विचारों में परस्पर विरोध को पैदा होने देना और इसका समाधान करने से पूर्व कई वर्षों वरन् दशकों के लिए निरुत्साहित रहना "यदि" परस्पर विरोध को उच्चतम न्यायालय में ले जाया जाता है और सम्यक् अनुक्रम में सुलझाया जाता है "जब" मामला वहां सुनवाई के लिए आता है, आदर्श समाधान से कम है। अधिक बेहतर, अधिक गतिशील और बहुत अधिक समाधान-प्रद समाधान, जो समस्या का सुव्यवस्थित रीति से समाधान करेगा, विकसित करने की आवश्यकता है और आयोग का वर्तमान प्रयास ऐसा ही है ।



5.3.3. **प्रस्तावित समाधान के परिवेश निम्नलिखित हैं :—**

(1) जब "क" उच्च न्यायालय को अखिल भारत विधि (भारत के संविधान का अपवर्जन करते हुए) के बारे में समस्या का सामना करना होता है जिस पर "ख" उच्च न्यायालय ने पहले ही निर्णय दिया है, यदि "क" उच्च न्यायालय का "ख" उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय से भिन्न या असंगत विचार है तो वह अपना निर्णय देने के स्थान पर उच्चतम न्यायालय को निर्देश करेगा । निर्देश आदेश के साथ तर्कसंगत राय होगी तथा "ख" उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय से भेद करने वाले कारणों के विशेष विनिर्देश सहित उसका अपना विचार प्रतिपादित किया जाएगा ।

(2)(क) निर्देश का समर्थन करने वाला पक्षकार उच्चतम न्यायालय में उपस्थिति के लिए व्यवस्था करेगा किन्तु ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं होगा ।

(ख) ऐसे पक्षकार को निर्देश-आदेश में दिए गए तर्क के अनुपूरक लिखित निवेदन प्रस्तुत करने का विकल्प होगा ।

(ग) निर्देश का विरोध करने वाले पक्षकार को भी उच्चतम न्यायालय में अधिवक्ता नियुक्त करने का और लिखित निवेदन प्रस्तुत करने का, जिसमें अन्य बातों के साथ लिखित निवेदनों का, यदि दूसरे पक्ष द्वारा प्रस्तुत किए गए हों, विरोध करने का वैसा ही विकल्प होगा ।

(3) उच्चतम न्यायालय उस राज्य की सरकार से जिसमें "क" और "ख" उच्च न्यायालय स्थित हैं, संबद्ध उच्च न्यायालयों के विचारों को मौखिक तर्क द्वारा समर्थित करने के लिए संबद्ध राज्यों के राज्य वकील-पैनल में से किसी अधिवक्ता को राज्य के खर्च पर नियुक्त करने की अपेक्षा कर सकेगा ।

(4) सभी ऐसे निर्देश किसी विशेष न्यायपीठ को सौंपे जा सकेंगे जो एकरूपता सुनिश्चित करने की अन्तर्निहित आत्यिकता को दृष्टि में रखते हुए, ऐसे सभी निर्देशों का निपटारा, उच्चतम न्यायालय में निर्देशों की प्राप्ति से छह मास के भीतर, करने का प्रयास कर सकेगा ।

(5) यदि "ख" उच्च न्यायालय या किसी अन्य उच्च न्यायालय के निर्णय से उसी प्रश्न पर कोई विशेष इजाजत याचिका या अपील पहले ही लंबित है तो उस मामले को निर्देश के साथ जोड़ा जा सकेगा । किसी हितबद्ध पक्षकार को मध्यपेक्षियों के रूप में उपस्थित होने दिया जा सकेगा ।

(6) उच्चतम न्यायालय निर्देश को लौटा सकेगा यदि यह प्रतीत होता है कि पक्षकार दुस्संधि से कार्य कर रहे हैं ।

(7) महान्यायवादी पर निर्देश की प्रति की तामील की जा सकेगी और यदि ऐसी वांछा की जाए तो वह संबद्ध केन्द्रीय कानून के संबंध में केन्द्रीय सरकार का विचार बताने का हकदार होगा ।

(8) निर्देश करने वाला उच्च न्यायालय निर्दिष्ट प्रश्न के संबंध में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के प्रकाश में सभी प्रश्नों पर अपील का अन्तिम रूप से निपटारा करेगा ।

(9) निर्देश में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय का, उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्देश को मान्य ठहराने की दशा में "ख" उच्च न्यायालय के विनिश्चय पर कोई समाधान या प्रभाव नहीं पड़ेगा यदि मामला उच्चतम न्यायालय में न ले जाए जाने के कारण पक्षकारों के बीच अन्तिम हो गया है और उक्त विनिश्चय "ख" उच्च न्यायालयों में पक्षकारों के बीच अविच्छिन्न रहेगा ।

5.3.4. उपर्युक्त सिफारिश को प्रभावी करने के लिए उचित विधायन अधिनियमित करना होगा। कार्य को सुकर बनाने के लिए प्रस्तावित विधायन का एक प्रारूप परिशिष्ट के रूप में दिया गया है।

5.3.5. **पहली सिफारिश का परिणाम**—यदि और जब स्वीकार की जाती है विधि के कुछ क्षेत्रों में विद्यमान परस्पर विरोध और अनतुल्यता को तुरन्त और विधि के अन्य क्षेत्रों में क्रमबद्ध रीति से सम्यक् अनुक्रम में दूर करना होगा। परिणामतः समरूप अखिल भारत विधि के समरूप उपबन्ध के अधीन नागरिकों को समान बर्ताव से इन्कार करने से हुए प्रत्यक्ष अन्याय का उपचार होगा।

**दूसरी सिफारिश का परिणाम**—यदि और जब स्वीकार की जाती है भविष्य में ऐसे परस्पर विरोधों को आरम्भ में ही दबा देना होगा। और नागरिक उसी ही विधि के अधीन विधि की समता के वचन से संरक्षित हो जाएंगे।

5.3.6. इसलिए आयोग तदनुसार सिफारिश करता है।

ह०/-
**(एम० पी० ठक्कर)**
अध्यक्ष

ह०/-
**(वाई० वी० अंजनेयुलु)**
सदस्य

ह०/-
**(पी० एम० बख्शी)**
सदस्य

ह०/-
**(जी० वी० जी० कृष्णमूर्ति)**
सदस्य-सचिव

नई दिल्ली, तारीख 21 फरवरी, 1990

## टिप्पण और निर्देश

**अध्याय 1**

1. हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 25(1) के सन्दर्भ में इस प्रश्न पर विद्यमान परस्पर विरोध के संबंध में अध्याय 4, पैरा 4.11 देखें।

**अध्याय 2**

1. **गुरूनाथ** बनाम **कमलाबाई**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, उच्चतम न्यायालय 206, 207, 208।
2. **गंगासरण** बनाम **राम चरण** (1952), उच्चतम न्यायालय रिपोर्ट 36।
3. **बालकृष्ण** बनाम **रामस्वामी**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1965, उच्चतम न्यायालय 195, 197।
4. ऊपर पैरा 2.4।
5. भारत का विधि आयोग, 54वीं रिपोर्ट (सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908) पृष्ठ 71–93, अध्याय 1, विशेष रूप से पैरा 1-अ 58 और 1-अ 59।
6. नीचे पैरा 2.9 देखें।
7. भारत का विधि आयोग, 54वीं रिपोर्ट (सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908) पृष्ठ 88, 89 देखें।
8. ऊपर पैरा 2.7।
9. नीचे पैरा 2.13 भी देखें।
10. नीचे पैरा 2.10 देखें।
11. **जगन्नाथन पिल्लै** बनाम **कुंजीयाम्मदम पिल्लै** (1987), उच्चतम न्यायालय मामले 572, 575।
12. **स्कंदिया बीमा कम्पनी** बनाम **कोकिलाबैन चन्द्रवदायन** (1987), उच्चतम न्यायालय मामले, 654, 657।

**अध्याय 3**

1. नीचे अध्याय 8।

**अध्याय 4]**

1. **दामोदर** बनाम **उर्मिला**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1980, राजस्थान 57।
2. **रानो देवी** बनाम **ऋषि कुमार** (1981) हिंदू विधि रिपोर्टर, 324 (जम्मू-कश्मीर)।
3. **बलविन्दर सिंह** बनाम **गुरपाल कौर**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1985, दिल्ली 14।
4. **एन० जी० रामप्रसाद** बनाम **जी० सी० बनमाला**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1988, कर्नाटक 162।
5. **के० कृष्णमूर्ति राव** बनाम **कामालाक्षी**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1983, कर्नाटक 235।
6. **हरिचरण कौर** बनाम **नच्छतर सिंह**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1988, पंजाब 27।
7. **के० आई० मोहन** बनाम **जीजाबाई**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, केरल 28।
8. मुम्बई और दिल्ली, नीचे देखें।
9. **श्रीमती चन्द्रकान्ता** बनाम **हंस कुमार और एक अन्य**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1989, दिल्ली 73।
10. **श्रीमती जयश्री रमेश लोंडे** बनाम **रमेश भिकाजी लोंढे**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1984, मुम्बई 302।
11. **एन० जी० रामप्रसाद** बनाम **बी० सी० बनमाला**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1988 कैट 162।
12. **श्रीमती पुष्पा रानी** बनाम **कृष्ण लाल**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1982, दिल्ली 107।
13. **अशोक शर्मा** बनाम **श्रीमती संतोष शर्मा**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1987, दिल्ली 63।
14. **श्रीमती सावित्री** बनाम **मूलचन्द**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1987, दिल्ली 52।
15. **श्रीमती शकुन्तला** बनाम **रत्नलाल** (1981), हिमाचल विधि रिपोर्टर, 542, (हिमाचल प्रदेश)।
16. **सदन सिंह** बनाम **श्रीमती रेशमा**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1982, इलाहाबाद 52।
17. **श्रीमती जरनैल कौर** बनाम **सरवन सिंह** (1979), हिंदू विधि रिपोर्टर, 415 (पंजाब और हरियाणा)।
18. **मीनारानी** बनाम **दशरथ**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1963, कलकत्ता 428।
19. **काडिया हरिलाल** बनाम **काडिया लीलावती**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1961, गुजरात 202।
20. **आकासम चीना बाबू** बनाम **आकासन पार्वती**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1967, उड़ीसा 163।
21. **गुरु चरण कौर** बनाम **रामचन्द्र**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1979, पंजाब और हरियाणा 206।
22. **पुरुषोत्तम** बनाम **श्रीमती देवाकाई**, अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1973, राजस्थान 3।
23. **मणिलाल** बनाम **श्रीमती भानुमती** 1987 (1), हि० विधि रिपोर्टर, 229।
24. **सदानन्द** बनाम **सुलोचना** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1989, मुम्बई 220।

25. **एस० जगन्नाथ प्रसाद** बनाम **श्रीमती एस० ललिता कुमारी,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1989, आन्ध्रप्रदेश 8।
26. ऊपर टिप्पण 19 देखें।
27. **शान्ताराम नर्कर** बनाम **हीराबाई,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1962, मुम्बई 27।
28. ऊपर टिप्पण 25।
29. **श्रीमती बलवन कौर** बनाम **मलूक सिंह,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, (1983), पंजाब और हरियाणा 28।
30. **जगदीश** बनाम **भानुमति,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, (1983), मुम्बई 297।
31. ऊपर टिप्पण 29।
32. **जंग बहादुर** बनाम **श्रीमती मुक्ता सयाल,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1986, दिल्ली 422।
33. **ईरिवा** बनाम **शिवप्पा सिद्धलिंगप्पा,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1987, कर्नाटक 241।
34. **सरस्वती अम्मल** बनाम **लक्ष्मी,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1989, मद्रास 216।
35. **अंजन कुमार** बनाम **मीनाक्षी सर्मा,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1985, गौहाटी 44।
36. **कमलाबाई** बनाम **रामदास,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1981, मुम्बई 187।
37. **ईरिवा** बनाम **शिवप्पा सिद्धलिंगप्पा,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1987, कर्नाटक 241।
38. ऊपर टिप्पण 36।
39. ऊपर टिप्पण 34।
40. **कामता प्रसाद** बनाम **श्रीमती ओमवती,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1972, इलाहाबाद 153।
41. **संतोष आनन्द** बनाम **आनन्द प्रकाश,** 1980, आल डब्ल्यू सी 157।
42. **सुरेन्द्र सिंह** बनाम **मंजित कौर,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1983, जम्मू-कश्मीर 86।
43. **अनिल कुमार** बनाम **श्रीमती अरुणा दुग्गल,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1989 एन०ओ०सी०, (**जम्मू-कश्मीर**), 63।
44. **श्रीमती शुक्ला** बनाम **ब्रज भूषण,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1982, दिल्ली 223।
45. **पी० महाराजन** बनाम **चक्कलाथिल कुंज,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1988, उड़ीसा 175।
46. **सुरेन्द्र कौर** बनाम **मदन गोपाल सिंह,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1980, पंजाब और हरियाणा 334।
47. **विनोद कुमार** बनाम **पंजाब राज्य,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1982, पंजाब और हरियाणा 372।
48. **सुरेश कुमार** बनाम **श्रीमती सरोज बाला,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1988, पंजाब और हरियाणा 217।
49. **डा० सुरज प्रकाश** बनाम **महेन्द्र पाल शर्मा,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1988, पंजाब और हरियाणा 218।
50. **अरूण कुमार** बनाम **ज्ञानेन्द्र नाथ,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1975, कलकत्ता 232।
51. **सूर्य कुमार** बनाम **माया दत्त,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1982, कलकत्ता 223।
52. **विठ्ठलबैन** बनाम **जे० एन० भट्ट,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1974, गुजरात 23।
53. **माधवन इलुशचन** बनाम **वैल्लयप्पन,** 1981, हिन्दू विधि रिपोर्टर, 594 (केरल)।
54. **जनाबाई अम्मल** बनाम **टी० ए० एस० पालणी मुदिलयार,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1981, मद्रास 62।
55. ऊपर टिप्पण 54।
56. **अनन्त गोपालराव** बनाम **जानकीबाई गोपालराव,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1984, मुम्बई 319।
57. **बी० बंगरप्पा** बनाम **बाई० के० टी० पत्तनशेटि,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1988, कर्नाटक 174।
58. **हेमलता देई** बनाम **उमाशंकरी महाराणा,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, 1975, उड़ीसा 208।
59. ऊपर टिप्पण 56।

अध्याय 5

1. ऊपर अध्याय 1, 2 और 3 देखें।

## परिशिष्ट

## प्रारूप विधेयक

## विनिश्चय परस्पर विरोध (एकरूपता पुनर्स्थापन) विधेयक, 1990

**उच्च न्यायालयों के बीच विनिश्चयों में परस्पर विरोधों को तय करने के लिए एक तंत्र का उपबंध करके विधि की एकरूपता की अभिवृद्धि करने के लिए विधेयक**

1. **संक्षिप्त नाम**—इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम विनिश्चय परस्पर विरोध (एकरूपता पुनर्स्थापन) अधिनियम, 1990 है।

2. **परिभाषाएं**—इस अधिनियम में जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, —
(क) "निर्देश" से उच्च न्यायालय द्वारा धारा 3 के अधीन किया गया निर्देश अभिप्रेत है; और
(ख) "कानूनी लिखत" से किसी अधिनियमिति के अधीन बनाया गया कोई नियम, अधिसूचना, उपविधि, आदेश, स्कीम या प्ररूप अभिप्रेत है;
(ग) "विशेष न्यायपीठ" से वह न्यायपीठ अभिप्रेत है जिसे निर्देश विनिर्दिष्ट रूप से सौंपे जाते हैं।

3. **विनिश्चयों में परस्पर विरोध और उच्च न्यायालय द्वारा निर्देश**— (1) जहां किसी उच्च न्यायालय के समक्ष लंबित किसी मामले में अन्तर्वलित विधि के किसी प्रश्न पर, जो ऐसा प्रश्न है, जिसको यह धारा लागू होती है उच्च न्यायालय ऐसा विचार प्रकट करता है जिसमें किसी अन्य उच्च न्यायालय के निर्णय में उस प्रश्न पर प्रकट किए गए विचार से मतभेद है (जो ऐसा निर्णय नहीं है जो बाद में विधि द्वारा उलट दिया या अधिक्रांत कर दिया गया है) वहां उच्च न्यायालय मामले का अंतिम निपटारा करने के पूर्व उस प्रश्न का निर्देश उच्चतम न्यायालय को इसलिए करेगा कि उस विषय पर विधि सम्पूर्ण भारत के लिए तय की जाए।

(2) इस धारा के उपबन्ध,—
(क) किसी केन्द्रीय अधिनियम या उसके अधीन निकाली गई किसी कानूनी लिखत के निर्वचन से संबंधित; या
(ख) भारत की असंहिताबद्ध विधि के भागरूप किसी विषय से संबंधित विधि के किसी प्रश्न को लागू होते हैं, किन्तु वे संविधान से या उसके अधीन निकाले गए किसी आदेश के निर्वचन से संबंधित किसी प्रश्न को लागू नहीं होते हैं।

4. **निर्देश आदेश की अंतर्वस्तु**—उच्च न्यायालय धारा 3 के अधीन निर्देश आदेश में,—
(क) अपने द्वारा उच्चतम न्यायालय की निर्दिष्ट विधि का प्रश्न विनिर्मित करेगा, और
(ख) अन्य उच्च न्यायालय के विचार से मतभेद रखने के लिए अपने कारणों सहित उस प्रश्न पर अपना विचार कथित करेगा।

5. **उच्चतम न्यायालय में कार्यवाहियां**—जहां विधि के किसी प्रश्न के सम्बन्ध में उच्च न्यायालय द्वारा धारा 3 के अधीन उच्चतम न्यायालय को निर्देश किया जाता है, वहां उच्चतम न्यायालय निर्देश की सुनवाई करने और ऐसे प्रश्न का इस अधिनियम के उपबन्धों के अनुसार अवधारण करने के लिए अग्रसर हो सकेगा।

6. **पक्षकारों और अन्य व्यक्तियों को सूचना**—निर्देश की सुनवाई के लिए नियत तारीख की सूचना :—
(क) उच्च न्यायालय में लंबित कार्यवाही के, जिसमें से निर्देश उद्भूत हुआ, पक्षकारों को दी जाएगी;
(ख) भारत के महान्यायवादी को दी जाएगी;
(ग) यदि उच्चतम न्यायालय ऐसा निर्देश दे तो उन राज्यों की सरकारों को दी जाएगी जिनके सम्बन्ध में निर्देश करने वाला न्यायालय और उच्च न्यायालय, जिसके विचार के साथ प्रथम वर्णित उच्च न्यायालय का मतभेद है, अधिकारिता का प्रयोग करते हैं; और
(घ) ऐसी अन्य राज्य सरकार, व्यक्ति या निकायों को, यदि कोई हों, जो उच्चतम न्यायालय मामले की परिस्थितियों में उचित समझे, दी जाएगी।

7. **पक्षकारों द्वारा तर्क और निवेदन**—(1) कोई पक्षकार जिसे धारा 6 के खंड (क) के अधीन सूचना दी जाती है, यदि वह ऐसा करना पसंद करे, तो निर्देश में उपस्थित हो सकेगा और न्यायालय से विवाद्य प्रश्न पर, जिसके अन्तर्गत (यदि न्यायालय द्वारा ऐसी अनुज्ञा दी जाए) निर्देश में उपस्थित होने वाले किसी पक्षकार के तर्कों या निवेदनों के उत्तर में मौखिक तर्क है, कर सकेगा या लिखित निवेदन कर सकेगा।

(2) भारत का महान्यायवादी, जिसे धारा 6 के खंड (ख) के अधीन सूचना दी जाती है, निर्देश में उपस्थित होने और न्यायालय में विवाद्य प्रश्न पर, जिसके अन्तर्गत उस प्रश्न पर केन्द्रीय सरकार के विचार न्यायालय के समक्ष रखने के लिए आशयित तर्क या निवेदन हैं, मौखिक तर्क कर सकेगा या लिखित निवेदन कर सकेगा ।

(3) जहां राज्य सरकार को धारा 6 के खण्ड (ग) के अधीन सूचना दी जाती है, वहां राज्य सरकार अपने अधिवक्ता के माध्यम से —

(क) निर्देश में उपस्थित होगी और विवाद्य प्रश्न पर न्यायालय में मौखिक तर्क (जब तक कि न्यायालय द्वारा अभिमुक्ति न दी जाए) और लिखित निवेदन करेगी ; और

(ख) यदि न्यायालय द्वारा ऐसी अपेक्षा की जाए तो न्यायालय के समक्ष ऐसी सभी सामग्री रखेगी जो उस राज्य के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय द्वारा विवाद्य प्रश्न पर प्रकट किए गए विचार का सम्भवतः समर्थन करें ।

(4) राज्य सरकार, व्यक्ति या निकाय जिसे धारा 6 के खंड (घ) के अधीन सूचना दी गई हो निर्देश में उपस्थित हो सकेगा और विवाद्य प्रश्न पर न्यायालय में मौखिक तर्क कर सकेगा या लिखित निवेदन कर सकेगा ।

8. **विशेष न्यायपीठ द्वारा सुनवाई और मामलों का समेकन**—(1) किसी निर्देश की उच्चतम न्यायालय की किसी विशेष न्यायपीठ द्वारा सुनवाई, एकरूपता सुनिश्चित करने के लिए अन्तर्निहित आत्यिकता की दृष्टि से उच्चतम न्यायालय में उसकी प्राप्ति के छह मास के भीतर निपटारे के लिए की जा सकेगी ।

(2) जहां किसी निर्देश में अन्तर्वलित प्रश्न उच्चतम न्यायालय के समक्ष लंबित किसी कार्यवाही में (जिसके अन्तर्गत अपील करने के लिए विशेष इजाजत के लिए कोई याचिका भी है, चाहे किसी उच्च न्यायालय से अपील पर हो या अन्यथा) भी अन्तर्वलित है वहां उच्चतम न्यायालय निर्देश और कार्यवाहियों का समेकन कर सकेगा और न्याय के हितों में उनकी एक साथ सुनवाई कर सकेगा ।

9. **दुस्संधिपूर्ण निर्देश**—जहां उच्चतम न्यायालय की राय है कि कोई निर्देश पक्षकारों के बीच दुस्संधि के परिणामस्वरूप है वहां वह उसे सुनने से इन्कार कर सकेगा और उसे उच्च न्यायालय को वापस कर सकेगा ।

10. **उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय**—(1) इस अधिनियम के अधीन किसी निर्देश पर उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय उस उच्च न्यायालय को जिसने निर्देश किया था और उन सभी उच्च न्यायालयों को जिनके विवाद्य प्रश्न पर विचारों के समर्थन में उच्चतम न्यायालय के समक्ष संयाचना की गई है, संसूचित किया जाएगा ।

(2) उसके पश्चात् निर्देश करने वाला उच्च न्यायालय अपने समक्ष लंबित मामले को, के उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के अनुरूप निपटाने के लिए अग्रसर होगा ।

11. **उच्च न्यायालयों निर्णयों पर प्रभाव**—इस अधिनियम के अधीन विधि के प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय किसी मामले मे, जो उस विशेष मामले के पक्षकारों के बीच हो, किसी निर्णय की अन्तिमता पर प्रभाव नहीं डालेगा, यदि उच्च न्यायालय के ऐसे निर्णय के विरुद्ध इस तथ्य के होते हुए भी कि निर्णय में अधिकथित विधि की प्रतिपादना उच्चतम न्यायालय द्वारा अपने विनिश्चय में उलट गई हो या उपान्तरित कर दी गई हो, के विरुद्ध अपील नहीं की गई है ।

12. **उच्चतम न्यायालय द्वारा नियम**—उच्चतम न्यायालय धारा 3 के अधीन निर्देशों और उन पर कार्यवाहियों के संबंध में अनुसरित की जाने वाली प्रक्रिया को विनियमित करने के लिए नियम बना सकेगा ।

———————

प्रशासन।—वि 8—192 एम० आफ ला एण्ड जस्टिस/90—26-11-91—400.

P.L.D.92. CXXXVI(H)
400-1990 (DSK IV)

मूल्य : (देश में) रु० 145.00 (विदेश में) पौंड 16.91 शिलिंग या डॉलर 52.20 सेन्टस्

प्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय, नाशिक-422 006 द्वारा मुद्रित
तथा प्रकाशन-नियंत्रक, भारत सरकार, दिल्ली-110 054 द्वारा प्रकाशित ।

PRINTED BY THE MANAGER, GOVT. OF INDIA PRESS, NASHIK-422 006
AND PUBLISHED BY THE CONTROLLER OF PUBLICATIONS, DELHI-110 054
1991